सिद्धयोग

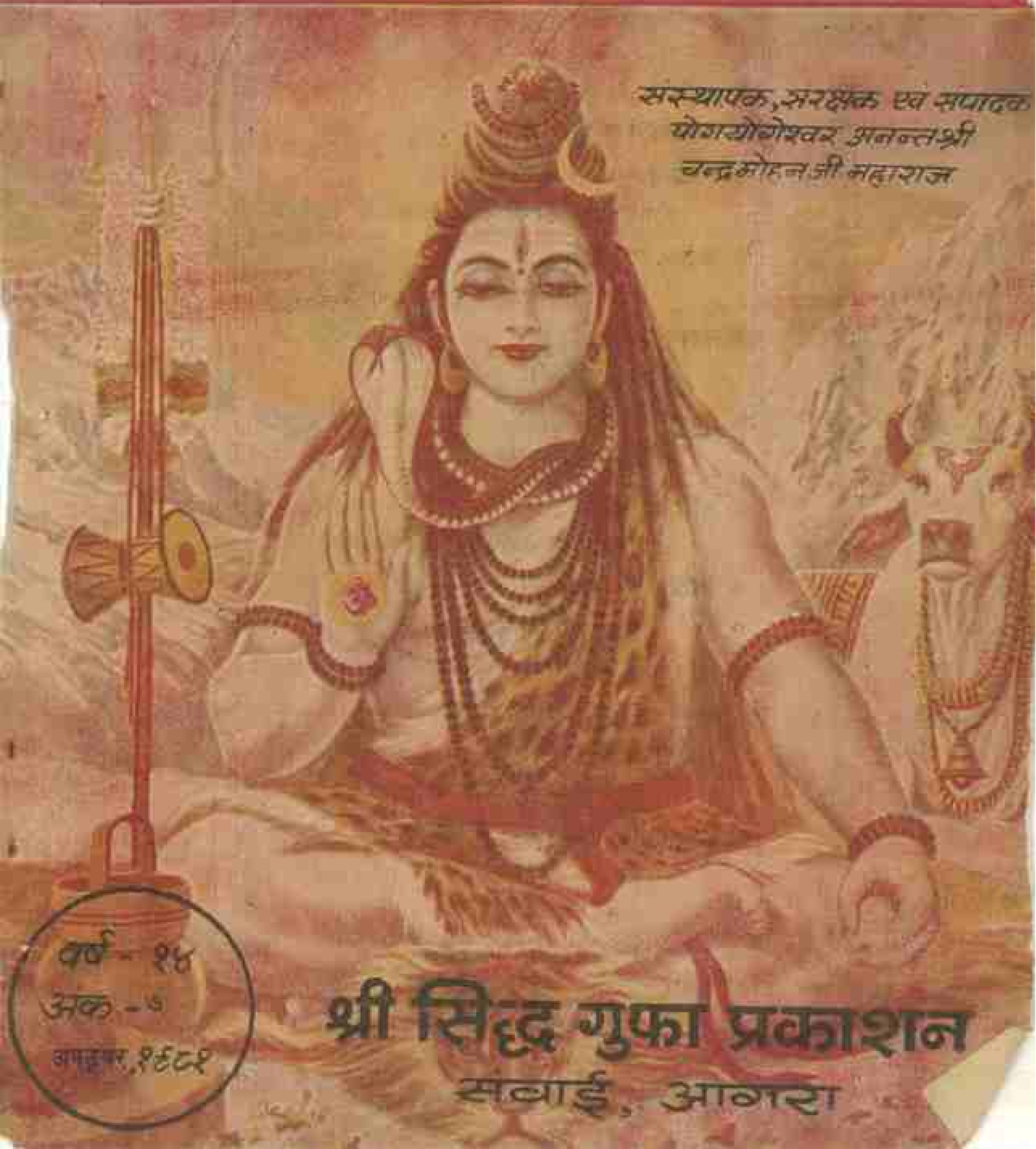

संस्थापक, संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष - १४
अंक - ७
अक्टूबर, १९८१

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सवाई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

卐

❀ प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो १

❀ सिद्धियां कैसे ? (विशेष लेख)
योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज २

❀ अनुग्रह का स्वरूप
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा १०

❀ उपासना
श्री रामसजीवनसिंह १६

❀ सद्गुरु की प्रसन्नता
डा० श्री विजयसिंह १७

❀ भक्ति-शास्त्र
ज्योतिष कलानिधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा २०

❀ नारी और योग
श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए. २७

❀ श्री सद्गुरु भक्ति से श्रद्धावान महिला की सद्गति
श्री आत्माप्रसादसिंह एडवोकेट ३१

❀ मुक्तिप्रद योग का वर्णन
श्री मानिकचन्द उमर वैश्य ३४

❀ मानसी सेवा : अन्तर्यात्रा का पाथेय
श्री डा० रमेशचन्द्र मिश्र ३७

卐

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

वार्षिक मूल्य : १८ रुपया

सिद्ध योग

वर्ष १४
अङ्क ७

अक्टूबर
१९८१

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्राप्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

❀ प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो ❀

—❀❀❀❀—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो
विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो
अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

अर्थात्

हे सब प्रजा के स्वामी परमात्मा ! आपसे भिन्न दूसरा कोई भी उन इन सब उत्पन्न हुए जड़-चेतनादिकों को नहीं तिरस्कार करता है, अर्थात् आप सर्वोपरि हैं। जिस-जिस पदार्थ की कामना वाले होके हम लोग भक्ति करें, आपका आश्रय लेवें और वाञ्छा करें उस-उस की कामना हमारी सिद्ध होवे, जिससे हम लोग धनैश्वर्यों के स्वामी होवें ।

हमारा विशेष लेख—

❋ सिद्धियाँ कैसे ? ❋

❋ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

आज के युग में कोई ऐसा प्राणी नहीं दिखलाई देता कि जिसके मन में सिद्धि की कामना न हो, यद्यपि भगवान पतञ्जलि देव जी महाराज ने अपने मुखारविन्द से यह स्पष्ट कह दिया कि—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।

अर्थात् प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आवर्श, आदि व अन्य सभी प्रकार की सिद्धियां समाधि स्थिति में विघ्न-कारक अर्थात् अन्तराय भूत हैं किन्तु फिर भी बड़े-बड़े वेदान्ती एवं पर-वैराग्य के अभ्यासी भी जो हर समय ब्रह्म-सत्यं जगन्मिथ्यात्व का पाठ पल पल में पढ़ते रहते हैं वे सभी सिद्धियों के परम इच्छुक एवं उनकी प्राप्तिहेतु घोरतम प्रयत्नशील दिखलाई देते हैं। अयमात्मा ब्रह्म, जीवो ब्रह्म व केव-लम् के मनन को छोड़कर अपने मान प्रतिष्ठा को बढ़ाने तथा शक्ति प्राप्त करने के लिये छोटी से छोटी साधनायें वे करते रहते हैं। यह तो ब्रह्म जिज्ञासुओं की बात रही। इनके अतिरिक्त संसार के वे प्राणी भी हैं जो नितान्त तमसावृत हैं, एवं जिनकी दृष्टि में लोक ही लोक है परलोक नाम की किसी भी सत्ता को मानते ही नहीं, जिनका सिद्धान्त है लोक बनाना, अर्थात कुछ भी क्यों न करना पड़े पर उनका यह लोक बन जाय। दूसरों का हित या अहित इसकी इनको कोई परवाह नहीं, इनका सिद्धान्त रहता है—

इदमद्य मया लब्धं
मिमम्प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे
भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रु
हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहं भोगी,
सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि
कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

अर्थात् उनके मन में प्रतिक्षण यही भाव रहा करते हैं कि इतना धन मैंने प्राप्त कर लिया और जो अभी नहीं मिला उसको भी जल्दी प्राप्त कर लूंगा। अमुक शत्रु को मैंने मार दिया शेष में जो और रहे हैं उनको भी मार डालूंगा। मैं ही सिद्ध एवं सब प्रकार से

पूज्य हूँ और कोई मेरे बराबर हो ही कैसे सकता है आदि आदि।

ऐसे घोर पाप-कर्मों मे रत रहने वाले प्राणी भी सिद्धि प्राप्त करने के लिए क्या नहीं करते किन्तु सिद्धि क्या है व किनको मिल सकती है यह एक विचारणीय विषय है। सिद्धि प्राप्त करने का अधिकारी हर एक व्यक्ति नहीं हो सकता। हमारे आचार्यों ने अधिकार भेद को माना है, और वह नितान्त सत्य भी है। अधिकार शब्द का अर्थ ही कार्यारम्भण सामर्थ्य है, अर्थात् जो-जो जिस-जिस काम के करने की ताकत रखता हो वही उसका अधिकारी है। एक दो वर्ष के बच्चे पर दश सेर वजन नहीं रखा जा सकता, वह तो अभी झुनझुने से खेलने का ही अधिकारी है न कि वजन उठाने का। यही बात शिक्षार्थी लोगों के लिए भी है जिस छात्र की बुद्धि वृत्ति जिस विषय को पकड़ती हो वह उसी शिक्षा का अधिकारी है। सिद्धि-मार्ग में प्रवेश करने के इच्छुकों के लिए भी बिल्कुल यही सिद्धान्त लागू है। योगाचार्य भगवान पतञ्जलि देव स्वयं आदेश करते हैं—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः।

(योग द० समाधिपाद सूत्र २२)

अर्थात् अधिकारी भेद से मनुष्य स्थिति को पा सकता है। कोई मृदु अधिकारी है व कोई मध्य अधिकारी है व कोई उत्तम अधिकारी है। वे ही लोग अपनी अपनी अधिकार योग्यता के अनुसार सिद्धि भाजन हो सकते हैं कितने ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अधिकारी तो हैं किन्तु उनको साधन उपलब्ध नहीं है, कदाचित साधन भी उपलब्ध हो जाय तो योग्य शिक्षक व सहायक नहीं है, यही सब बातें है जिनके कारण साधक का पूरा उत्थान नहीं हो पाता।

सिद्धि प्राप्त करने का उत्तम अधिकारी कौन ? पढ़िये—

महावीर्यान्वितोत्साही
मनोज्ञ शौर्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च
निर्मोहश्च निराकुलः॥
नवयौवनसम्पन्नो
मिताहारी जितेन्द्रियः।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो
दाता सर्व जनाश्रयः॥
अधिकारी स्थिरो धीमान,
यथेच्छावस्थितः क्षमी।
सुशीलो धर्मचारी च
गुप्तचेष्टः प्रियम्वदः॥
शास्त्रविश्वास सम्पन्नो
देवता गुरुपूजकः।
जनसङ्गविरक्तश्च,
महाव्याधि विवर्जितः॥
अधिमात्रो ज्ञयः सर्व
योगस्य साधकः।

त्रिभिर्वत्सरैः सिद्धि-
स्तस्य नात्र संशयः ॥
सर्व योगाधिकारी स
नात्र कार्याविचारणा ।

अर्थात् जो महावीर्यवान, परमोत्साही मन की बात जानने वाला, शूरवीर शास्त्र वेत्ता, एवं अभ्यासशील संसार के मोहमाया से रहित, एवं जिनके मन में किसी भी प्रकार की उद्विग्नता न हो, नवयुवक, मिताहारी, जितेन्द्रिय एवं निर्भय हो सर्व प्राणियों को अवलम्ब देने वाला अधिकारी स्थिर चित्त— अपने लक्ष्य पर अटल एवं क्षमावान, सुशील धर्मात्मा अपने आपको छुपाकर रखने वाला अर्थात् अपनी ताकत को गुप्त रखने वाला व प्यारा बोलने वाला शास्त्र विश्वास सम्पन्न, देवता व गुरुदेव का पूजक सङ्ग रहित एवं पूर्ण विरक्त इसके साथ किसी भी प्रकार की कोई विभ्राति न हो, ऐसा साधक उत्तमोत्तम अधिकारी है वह सभी प्रकार की साधना कर सकता है—ऐसे साधक को तीन वर्ष में ही सिद्धि-लाभ हो जाता है। इसमें कोई भी विचारने की बात नहीं। ऐसा साधक पूर्ण अधिकारी व सिद्धि भाजन है। हर साधक को उपरोक्त लक्षण अपने आप में मिला लेने चाहिये। यदि ये लक्षण मिलते हैं तो वह अवश्य सिद्धि भाजन है।

सिद्धि क्या ?

सिद्धि शक्ति का ही नाम है। जन्म-ग्रहण करने पर व्यक्ति अपनी सहजा प्रकृति के अनुसार जिस-जिस गुण-कर्म-स्वभाव वाला होता है वह उसके अपने स्वाभाविक गुण-कर्म एवं स्वभाव की उत्कृष्टता है किन्तु किसी भी निमित्त को माध्यम बनाकर जो-जो विशेष प्रकार के परिणाम पैदा होते हैं, वही उसकी ताकत है, उसी का नाम सिद्धि है।

सिद्धियों के प्रकार

भगवान पतञ्जलि देव जी महाराज ने अपने योगदर्शन कैवल्य पाद के प्रारम्भ में सिद्धियों के प्रकार इस प्रकार बताये हैं—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ।

अर्थात सिद्धियां जन्म, औषधि, मन्त्र तप, एवं समाधि से होती हैं। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी का भाष्य पढ़िये--निम्नांकित पंक्तियां--

देहान्तरिता जन्मनासिद्धिः, औषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेत्येवमादि, मन्त्रैराकाशगमनमणिमादिलाभः । तपसा संकल्प सिद्धिः कामरूपो यत्र तत्र कामज इत्येवमादिः । समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः ।

अर्थात देहान्तरिता सिद्धि प्राणी मात्र को शरीर धारण करने मात्र से ही प्राप्त होती

है जैसे पक्षियों का आकाश में उड़ना, मछली का जल में प्राण धारण कर रहना, इसी प्रकार जो-जो प्राणी जिस-जिस जाति में जन्म लेता है उसको उसी योनि के अनुसार स्वाभाविक शक्ति ईश्वरीय संविधान से मिलती है। कदाचित विशेष प्रकार के पुण्य कर्मों के फलस्वरूप कोई व्यक्ति देवलोक में जन्म धारण करता है तो उसको देव शरीरों में होने वाली ताकतें स्वतः ही उपलब्ध हो जाती हैं, इसमें उसको कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इसके अतिरिक्त कई मनुष्यों में भी जन्मजात शक्ति वैलक्षण्य देखने में आता है। भगवान कपिलदेव एवं आटव्य, जैगीषव्य, आदि-आदि तो जन्म सिद्ध थे ही किन्तु उन महानुभावों के अतिरिक्त भी ऐसे व्यक्ति भूमण्डल पर जन्म लेते हैं जिनको जन्म लेते मात्र से ही कितनी ही विलक्षण शक्तियां प्राप्त रहती हैं व अपनी पूर्वजन्म की स्मृति भी पूरी कायम रहती है, उसमें उनका पिछले देह के कर्म विशेष कारण रहते हैं उनका पूर्वजन्म में योगाभ्यास, तप, ब्रह्मचर्य आदि इस जन्म की विलक्षणता का कारण बनता है। हमें अपने योग प्रचार के क्षेत्रों में कई व्यक्ति इस प्रकार के मिले हैं जिनको पूर्वजन्म की स्मृतियां तो थी ही उसके अतिरिक्त वे किस प्रकार योगाभ्यास करते थे व क्या मन्त्र जाप व स्वाध्याय करते थे वह भी ज्यों का त्यों याद था यह भी एक प्रकार से देहान्तरिता सिद्धि ही है। श्री राजऋषि भोजदेव ने इसी सूत्र के भाष्य में उस बात को देहान्तरिता सिद्धिके रूपमें स्वीकार किया है।

श्री राजर्षि भोज का भाष्य—

कास्चन जन्मनिमित्ता एव सिद्धयः यथा पक्ष्यादि नामाकाशगमनादयः यथा वा कपिल महर्षि प्रभृतानां जन्म समनान्तरैवोपजायमाना ज्ञानादयः सांद्धिकाः गुणः।

अर्थात् पक्षी आदि का आकाश गमन व कपिलादि महर्षियों का जन्म मात्र से ही पिछले जन्मों के अनुभूत ज्ञान आदि का अनायास स्वतः ही प्रगट होना देहान्तरिता स्वरूप ही सांसिद्धिक गुण है। इसी सिद्धान्त को स्वयं भगवान पतञ्जलि जी महाराज सिद्धान्त रूप से बतला रहे हैं—

भवप्रत्ययः विदेह प्रकृति लयानाम्।

—समाधिपाद सूत्र १९

विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः। तेहि स्वसंस्कारमात्रोपगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथा जतीयकमति वाहन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्नावर्तते ऽधिकारवशाच्चित्तम्।

अर्थात् जो योगी देह धर्मों से ऊँचे उठ गये हैं या जो सवितर्क एवं निर्वितर्क आदि समाधियों के निरन्तर अभ्यास से अपने आपको प्रकृति लीन कर चुके हैं वे सभी अपने अपने तथा जातीय संस्कारों के उपभोग के बाद में कहीं भी जन्म लेंगे तो तभी उनको अपने पूर्वजन्मों में अनुभव की हुई स्थिति स्वतः ही प्राप्त हो जायगी, अर्थात् उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए उनको कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये केवल मात्र उनका जन्म लेना ही कारण है। इसीलिये (विदेहानां देवानां प्रकृतिलयानाञ्च योगिनां भवप्रत्ययो भवति)।

इसी शङ्का की निवृत्ति के लिए अर्जुन ने भगवान कृष्ण से स्पष्ट कहकर पूछा था कि-

अयति श्रद्धयोपेतो
योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योग संसिद्धिं
कां गतिं कृष्ण गच्छति।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्ट-
श्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो
विमूढ़ो ब्रह्मणः पथि॥
एतन्मे संशयं कृष्ण
छेत्तु महंस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य
छेत्ता न ह्युपपद्यते॥

अर्थात् जो लोग योगाभ्यास करते हुए विचलित हो गये हैं उनकी क्या गति होगी- क्या वे लोग शरदकालीन छिन्नाभ्र की तरह नष्ट भ्रष्ट तो नहीं हो जाते ?

इसका उत्तर देते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि नहीं भाई ऐसी बात नहीं है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानु-
षित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव
कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके
जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं
लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः
संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव
ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु
योगीसंशुद्धकिल्बिषः ॥
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो
याति परां गतिम् ॥
– गीता ६/४१-४५

भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि हे अर्जुन ऐसी बात नहीं है ऐसे लोग पुण्यवानों के प्राप्य स्वर्गादि लोकों को पाकर बहुत लम्बे समय तक वहाँ रहकर पवित्र श्रीमानों के घर में या योगियों के घर में जन्म लेते हैं व वहाँ उनको वही पौर्वदेहिक बुद्धि संयोग मिल जाता है जिसको पाकर वे लोग पुनः-पुनः पूर्ण प्रयत्न करते हैं व पर गति को पाया करते हैं। इस प्रकरण के अनुसार वही जन्म-जन्मार्जित पुण्य योगी को बुद्धि संयोग मिलाता है, वह अपने आपको कृतार्थ बनाता है। कमाई जन्म जन्मान्तर की है व प्रकाशित होती है, इस जन्म में यह एक प्रकार देहान्तरिता सिद्धि है। जन्म-जन्मान्तर के कर्मों के प्रभाव से जो विलक्षणता शरीर में जन्म से ही होती है, वही जन्मजा सिद्धि कहलाती है।

औषधि से सिद्धि—

औषधियों के विषय में दिव्य औषधियों के लेख मिलते हैं व घटनायें भी घटित होती रहती हैं। भगवान व्यासदेव इसी सूत्र के भाष्य में असुर भवनों में रसायन आदि प्रयोग का उदाहरण लिखते हैं। असुर भवनों में किस प्रकार की किस रसायन का प्रयोग किया जाता था। यह तो प्रयोग कर्ता ही जानते होंगे किन्तु औषधियों के दिव्य प्रभाव आज भी छुपे नहीं हैं। मरणासन्न व्यक्ति को दिव्य औषधियों का प्रयोग करके वैद्य लोग जीवनदान देते हैं व कान्ति पैदा हो जाती है। सकल चिकित्सक डाक्टर लोग अपने दिव्य गुणयुक्त इन्जेक्शन लगाकर रोगी की हालत को तत्काल बदल देते हैं। दिव्य औषधियों के द्वारा कायाकल्प करते हैं। कई महात्माओं ने बतलाई। साधारण रूप से जो लोग ब्राह्मी बूटी का नित्य सेवन करते हैं उनका बौद्धिक विकास विलक्षण हो जाता है।

मन्त्र जप से सिद्धि—

मन्त्र जप करने से विलक्षण शक्ति का उदय होना ही मन्त्र शक्ति का द्योतक है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है—

स्वाध्यायाद्योगमासीत् । योगात्स्वाध्यायमामनेत् । स्वाध्याययोगसम्पत्त्याः परमात्मा प्रकाशते ।

अर्थात् साधक को चाहिए मन्त्र जप से योग की प्राप्त करे एवं योग को प्राप्त होकर मन्त्र का मनन करे। इस प्रकार निरन्तर जप एवं ध्यान करने से परमात्मा का प्रकाश होता है। भगवान पतञ्जलि देव आदेश करते हैं-

वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थ भावनम्। ततः प्रत्यक चेतनाधिगमोऽप्यन्तराय भावश्च ।

अर्थात् ईश्वर का बोधक नाम प्रणव है, साधक को चाहिये कि प्रणव का जप करे व प्रणवाभिधेय का ध्यान करे। उसके फलस्वरूप प्रत्यक् चेतन की प्राप्ति होगी व अन्तरायों का अभाव हो जायगा उपनिषद्—

स्वदेहमरणीं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणीम्, ध्याननिर्मन्थनाभ्यासादेवम् पश्येन्निगूढ़वत् ।

अर्थात् साधक को चाहिये कि वह अपने शरीर को अरणी बनाये व प्रणव को उत्तरारणी बनाये। इस प्रकार निरन्तर ध्यान निरमन्थन—अर्थात् ध्यानाभ्यास के द्वारा छुपे हुए इवे ईश्वर का प्रकाश करले। यह सब मन्त्र शक्ति का ही निर्देशन है। भगवान पतञ्जलि जी का एक और आदेश—

स्वाध्यायदिष्टदेवता सम्प्रयोगः ।

व्यास भाष्य—

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति ।

अर्थात् देव, ऋषि व सिद्ध लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति के सामने आते हैं व इसके काम कर दिया करते हैं। अर्थात् देवता, ऋषि, एवं सिद्धों की कृपा से साधक अभीष्ट सिद्धि को पा लेता है। कृपा का एक और सिद्धान्त—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।।

—कठोपनिषद्

अर्थात् यह आत्मा बहुत प्रवचन वाणी से व बुद्धि से या बहुत शास्त्र श्रवण से नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत जिसका यह स्वयं वरण करता है उसी को प्राप्त होता है व प्राप्त होकर उसके शरीर को अपना ही बना लेता है। अर्थात् जिस पर कृपा करता है उसी को प्राप्त होता है। इससे शक्तिपात अर्थात् सिद्धयोग के ही सिद्धान्त का निदर्शन है।

मन्त्र के अन्दर तीन शक्तियां निहित रहती हैं—सद्गुरु शक्ति, इष्टदेव की शक्ति तथा सिद्धों की शक्ति—इस प्रकार मन्त्र जप करने वालों को ये तीनों शक्तियां बराबर मिलती रहती हैं। वे लोग अभीष्ट सिद्धि को जल्दी से जल्दी पा लेते हैं और इसी मन्त्र जप के प्रभाव से व इष्टानुग्रह से अन्य अणिमादिक ऐश्वर्य एवं आकाश गमन आदि की शक्ति भी स्वाध्याय के बल से योगी पा लेता है।

तप से सिद्धियाँ—

सिद्धि प्राप्त करने का चौथा प्रकार तप

है, तप से कुछ भी अलभ्य नहीं रहता—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।

अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा देवों ने मृत्यु को जीत लिया । भगवान पतञ्जलि देव आदेश करते है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः ।

व्यास भाष्य—

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुध्यावरण मलं तदावरण मलापगमात् कायसिद्धिरणिमाद्या तथेन्द्रियाणांसिद्धिर्दर्शनदूराश्रूतपमाद्येति ।

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि के नाश हो जाने पर योगी को कायिक सिद्धि अणिमा, महिमा आदि और ऐन्द्रिय सिद्धि, दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि अनायास ही प्राप्त हो जाती है । पुराणों में श्री विश्वामित्र आदि के उदाहरण हैं कि तप के द्वारा ही उन्होंने सकल शक्तियां प्राप्त की ।

सिद्धि प्राप्ति का पांचवां उपाय

समाधि से सिद्धियां—

योगदर्शन के विभूतिपाद में उन ही विभूतियों का वर्णन है जो समाधि से प्राप्त की जा सकती है । समाधि की उत्कृष्ट स्थिति को ही संयम कहते हैं । योगी जहां जहां संयम करता है वहां-वहां की शक्ति को तत्काल पा जाता है किन्तु यह बहुत ही आवश्यक है कि योगी का अभ्यास कृत संयम बल इतना बढ़ गया हो कि उसे चिन्तन मात्र से संयम सिद्ध रह कर वह योगदर्शन के विभूतिपाद में कही गई सभी शक्तियों का बिना किसी प्रयास के प्राप्त कर लेगा ।

अतः योग मार्ग के पवित्र जिज्ञासुओं को अपना संयम बल ही बढ़ाना चाहिए । जिससे मनुष्य जीवन की सफलता हो व शक्तियों का खजाना पा जाय । ☼ ☼ ☼

卐 जीवन के दो पहलू 卐

ऐसा माना जाता है कि प्रकृति के दो पहलू हैं—यिन और यांग । भला और बुरा, प्रकाश और अन्धकार, गर्मी और सर्दी, पुरुष और स्त्री । ये दोनों पक्ष मिलकर ही पूर्णता आती है । दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, पूरक हैं ।

प्रकृति के ये दोनों पहलू जीवन के दो पहलू हैं । दोनों को मिलाकर ही जीवन पूर्ण होता है । एक की कमी दूसरे से पूरी होती है । दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और सारी विषमता समाप्त हो जाती है। पहिये के दोनों धुरे मिलकर घूमते हैं, तो एकही मालूम होते हैं।

इसी तरह सारी मानव जाति एक है । ऊपर का भेद नगण्य है । भीतर तो सबमें एक ही तत्व लबालब भरा पड़ा है ।

—चीनी उपनिषद्

अनुग्रह का स्वरूप

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम. ए. एम. एड.

महर्षि पतंजलि के सूत्र—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' पर भाष्य करते हुए महर्षि व्यास ने समाधि सिद्धि के लिए ईश्वर के अनुग्रह को आवश्यक कारण माना है। ईश्वर हिरण्यगर्भादि ऋषियों का भी आदि गुरु होने के कारण परमगुरु माना गया है। परमगुरौ भक्ति विशेषादावर्जितः अभिमुखीकृतः ईश्वरः तमनु गृह्णाति...... ....

भक्ति विशेष से अभिमुख होकर ईश्वर गुरु रूप में शिष्य पर कृपा करता है। अर्जुन जब तक भगवान कृष्ण के प्रति सखा भाव रखते रहे तब तक उन्हें दिव्यज्ञान नहीं प्राप्त हो सका। जब उन्होंने कहा—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'। मैं आपका शिष्य हूं, आपकी शरण में आया हूं, मुझे शिक्षा दीजिए। मेरे अज्ञान को दूर कीजिए:—ऐसा कहते ही अर्जुन भगवान के अनुग्रह के भाजन हो गये। भगवान तब तक अपना हृदय किसी को नहीं देते जब तक कोई उनका नहीं हो जाता। जब तक साधक संसार का रहता है तब तक वे छलिया बन कर उसे धन, पुत्र, पद, प्रतिष्ठा देकर संसारमें ही चलाते रहते हैं। उसकी बुद्धि को कामना युक्त बनाते रहते हैं। जिस समय साधक भगवान से कुछ नहीं चाहता—कामनाशून्य हो जाता है उसी क्षण वे स्वयं उसके हृदय में आ जाते हैं। क्योंकि जहां शून्य है वहां भगवान निवास करते हैं। भगवान ने अपना स्वभाव श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्ट किया है—

सकृदेव प्रपन्नाय
तवास्मि च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यः
ददामि एतत् व्रतं मम॥

अर्थात् एक बार भी कारुण्य भाव से मेरा भक्त मुझे पुकारता है, अपने को मुझे समर्पित कर देता है। 'जो कुछ भले-बुरे हम तेरे हैं नाथ एक-एक क्षण तुम्हारे बिना एक कल्प लग रहा है। जल्दी अपनाओ मैं पूर्णतया तेरा हूं। जब भक्त दुःखी होकर करुण-स्वर से इस प्रकार पुकार करता है—'मैं तेरा हूं'। 'तेरा लाड़ला होकर भी दुःख पा रहा हूं' तब प्रभु दौड़े-दौड़े आते हैं। गोद में लेकर अपने हाथ से आंसू पोंछकर उसे विश्वास दिलाते हैं—तू यदि मेरा है तो मेरे यहां दुःख नहीं है। मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूं। तू मेरा है तो जा आज से निर्भय

हो जा। राजा का बेटा कंगाल हो जाय तो इसमें राजा की तोहिनी है। जिस दिन जीव प्रभु के नाम गोदनामा लिख देता है उसी क्षण प्रभु उसे अपनी विभूति, सुख, शान्ति और आनंद देकर निहाल कर देते हैं।

कारुण्य भाव भक्ति विशेष है। करुणा में अहंकार गलकर आंसू का सागर बन जाता है। 'राम नाम कहि लेहि उछासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा।' राम का नाम कान में पड़ते ही चारों ओर प्रेम का सागर हिलोरें लेने लगता है। राम का नाम मुँह पर आते ही हृदय में प्रेम का ज्वार-भाटा उठने लगता है। वाणी मूक हो जाती है इन्द्रियां बाह्य ज्ञानशून्य हो जाती है और आत्म-विस्मृति हो जाती है। चित्त तरल हो जाता है-रोम-रोम राम बन जाता है। प्रकाश की किरणें रोम-रोम से बाहर दूर तक फूटकर निकलने लगती है--प्रेमसमाधि-भावसमाधि हो जाती है। गौरांग महाप्रभु-चैतन्य रामकृष्ण परमहंस की दशा देखकर देखने वालों को भी छूत की बीमारी लग जाती थी, उन्हें भी समाधि हो जाती थी।

हम संसार की अनित्य वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए कितनी भाग दौड़ करते हैं। उनके रक्षण के लिए कितने सतर्क रहते हैं और न रहने पर रो-रोकर आंसू की नदी बहा देते है। कभी नित्य वस्तु के लिए भी हमने चाह की? तड़पे? दो आंसू भी बहाये? द्रौपदी ने कारुण्य भाव से उन्हें पुकारा तो क्या वे नहीं आये? ध्रुव और प्रह्लाद ने उन्हें कैसे पुकारा था? उनको भाव सहित पुकारने लगें तो वे आये बिन रह नहीं सकते। भाव सहित पुकारना ही भक्ति है, भजन है और जप तथा स्मरण है।

एक बार कहकर देखो—

बुद्धि वकुपटता नाथ
समाप्ता मम उक्तयः।
नैव किञ्चिद् विजानामि
त्वमेव शरणं मम॥

हे नाथ! न मुझमें विद्या का, बुद्धि का, ज्ञान का, चिन्तन और विचारों का बल है--मुझ निर्बल के बल आप ही हैं। मैं आपकी शरण हूँ। शरणागत की रक्षा करना प्रभु का स्वभाव है। अपने करुण भाव से प्रभु का स्वभाव जगाना सीख लें-यही रागानुगा-प्रेमाभक्ति-महाभाव की अवस्था है।

जैसे विधवा अपने पति के लिए तड़पती है। जैसे पतिव्रता एक क्षण भी अपने प्राण प्यारे को अपने हृदय से अलग नहीं कर सकती। जैसे वेश्या अपने ग्राहक का बेचैनी से इंतजार करती है-वैसी छटपटाहट, वैसी अनन्यता और वैसी एकाग्रता यदि आजाय तो उसी क्षण प्रभु की कृपा बरस पड़ती है। कृपा की वृष्टि

सदा करते ही रहते हैं किन्तु इस अभागे जीव ने अपने पात्र को उलटा रख दिया है। चारों ओर जल ही जल है चिड़ियाँ चहचहा रही हैं। फूल पत्तियां उसकी कृपा को पाकर मुस्करा रही हैं, भ्रमर उसकी कृपा से उन्मत्त बने घूमते हैं—किन्तु करील का पेड़ बसन्त ऋतु में भी बिना फूल का बना है। विषयों से अपने हृदय रूपी पात्र का मुँह उलटो तो सही। प्रभु की ओर धारणा ध्यान द्वारा अभिमुख होना सीखो, लीलागान, कथा श्रवण से पुलकित होना सीखो—प्रभु तुम्हारे पात्र को अमृत से भर देंगे। छलकने लगोगे। नारद जी भक्ति सूत्र में कहते हैं:—' यं लब्ध्वा आनन्दी भवति, उन्मत्तो भवति तृप्तो भवति······ ··· प्रेम की गंगा जब हृदय में बहने लगेगी तो पैर चलेंगे नहीं नाचने लगेंगे, कण्ठ से राग फूट पड़ेगा। बेहोशी, अलबेलापन, थिरकन और फिसलन में अद्भुत आनन्द, आनन्द ही आनन्द' ······ चारों ओर आनन्द उमड़ने लगेगा। कोई पूछेगा कि क्या मिल गया जो खुशी में पागल हो गये हो तो कह नहीं सकोगे। 'ज्यों गूंगा गुड़ स्वाद को लखिक न देहि बताय।' गूंगे की सी स्थिति हो जायगी। गूंगे ने गुड़ खा लिया। किसी ने पूछा—भाई, कैसा स्वाद है गुड़ का ? गूंगा कैसे बताये ? जीभ के चटकारे लेता है, नेत्रों से प्रसन्नता व्यक्त करता है, तरह-तरह से मुँह बनाकर दिखाता है। आनंद कहने की वस्तु है जो वह बताये ! आनन्द अनुभव की वस्तु है। जिसे एक बार प्रभु कृपा का स्वाद मिल गया वह प्रभु को छोड़ना नहीं चाहता। प्रभु छोड़ना चाहें तो भी वह नहीं छोड़ता। अबोध बालक अपने पिता का हाथ पकड़कर चल रहा है। पिता बोले—थोड़ी देर यहीं बैठ ! मैं कुछ काम करके अभी आया। बच्चा इतना सुनते ही कसकर पिता को पकड़ लेता है। पिता डांट फटकार कर उसे थोड़ी देर अकेला छोड़ना चाहे तो वह इतना रोता है मानो अभी प्राणोत्सर्ग किये दे रहा है। विवश होकर पिता को बच्चे को लेकर अपने काम करने पड़ते हैं। पकड़ मजबूत चाहिए। भला फिर कैसे छूट सकते हैं ? असहाय बनकर उन्हें बांधा जा सकता है। वैसे वे गुणातीत हैं किन्तु कोई उन्हें बांधने पर आ जाय तो वे गुण (रस्सी) से भी बंध जाते हैं। एक बार माता यशोदा ने भगवान श्रीकृष्ण की नटखट हरकतों से तंग आकर निश्चय किया कि आज उनको रस्सी से ऊखल में बांध लूँगी ! फिर देखूं, कैसे ये गोपियों का दही लुढ़काने जायेंगे। पकड़ तो लिया उनको। पकड़ना उतना कठिन नहीं है। ज्ञान से, ध्यान से, कर्म से वे पकड़ में आ ही जाते हैं किन्तु बांध पाना बड़ा कठिन है। आकर चले जाते हैं। यशोदा ने दृढ़ निश्चय किया कि मैं आज बांधकर रहूँगी, देखती हूँ कैसे ये जाते हैं ? रस्सी से बांधने

लगी यशोदा। रस्सी छोटी पड़ गयी। उसने दूसरी रस्सी जोड़ी! फिर भी छोटी रह गई रस्सी पर रस्सी जोड़ती गई और परिणाम वही कि वे बंधने में नहीं आ रहे। रस्सी छोटी पड़ जाती है। परिश्रम करते-करते थक गई यशोदा। पसीना झलकने लगा ललाट पर। कभी अपने पर गुस्सा कभी रस्सी पर कभी कृष्ण पर—पुरुषार्थ बुद्धि, युक्ति और बल अब सब दांव पर लगा दिये—यशोदा असहाय हो गई। बंधने की कृपा करो। मां के भाल पर जब प्रभु ने श्रम सीकर देखे, हृदय में व्याकुलता तथा कारुण्य भाव देखा तो वे कहने लगे—मां अब तक तू अपने साधनों पर अभिमान कर रही थी। अब मेरी कृपा पर भरोसा कर रही है तो मैं तेरे ऊपर कृपा करता हूं, 'ले बांध!' दृष्ट्वा परिश्रम कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने–भागवत। वे कृपा कर स्वयं बंध गये। प्रभु को पाने के लिए, उनकी कृपा चाहने के लिए अपने को शून्य बनाना पड़ता है। ब्रजगोपिकाओं जैसा अनन्य भाव, मीरा जैसा भाव–मेरे तो गिरधरगोपाल दूसरा न कोई! विभीषण जैसा कारुण्य भाव चाहिए—

श्रवण सुजस सुनि आयहुँ, प्रभु भंजन भव पीर।
त्राहि त्राहि आरत हरन, शरण सुखदरघुबीर॥

गज की सी पुकार, कौरव सभा में द्रौपदी की सी पुकार शून्य में उठती है। शून्य चक्र में पहुँचने पर कृपा बरसती है आनन्दानुगत समाधि यहीं होती है। 'गगन मंडल में सेज पिया की।' शून्य में, एकान्त में वे आते हैं, मिलते हैं। शून्य चक्र में पहुँचकर सूनी सेज पर वे आते हैं। यदि लोकेषणा की वहां थोड़ी भी मिलावट हुई तो वे अन्तर्धान हो जाते हैं। अहंकार की अवस्था में यदि वे आते हैं तो वे जीव को 'राग' देकर बांधते हैं। घर, परिवार, धन, विद्या, पद प्रतिष्ठा की आसक्ति में बांधकर वे चलते बनते हैं। जैसे रोते हुए बच्चे को देखकर माता नाना प्रकार के चमकीले, लुभावने खिलौने बच्चे के हाथ में देकर दवे पांव निकल जाती है। कोई-कोई चतुर और सयाना बालक होता है वह रो-रोकर आसमान सिर पर उठा लेता है और खिलौने उठाकर फेंक देता है। नचिकेता ने जब सारे प्रलोभनों को ठुकरा दिया तो उसे सद्वस्तु मिल गई। यम ने उसे धन, राज्य, वैभव तथा स्वर्ग का लालच दिया। नचिकेता ने सब के उत्तर में यही कहा—क्या ये सब पदार्थ कभी नष्ट नहीं होंगे? यह नष्ट होंगे तो ऐसे नश्वर पदार्थों को पाकर मेरी समस्या का समाधान कैसे हो सकेगा? 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'। अन्त में यम ने अनश्वर तत्व-ज्ञान देकर नचिकेता को कृत कृत्य कर दिया।

जीवन में जब त्याग वृत्ति का उदय हो जाय तो समझना चाहिए ईश्वर का अनुग्रह

प्रारम्भ हो रहा है। त्याग से अहंकार पतला होता है। बाह्य त्याग से भी राग का क्षय नहीं हो पाता। उसके लिए समत्व बुद्धि प्राप्त करनी पड़ती है। समत्व बुद्धि से विवेक आता है। जैसा कि नचिकेता को विवेक हो गया था कि नश्वर पदार्थों से शाश्वत शान्ति नहीं मिल सकती अतः अमृत की प्राप्ति ही श्रेष्ठकर है। विवेक से वैराग्य होता है। वैराग्य का अर्थ है भोग के प्रति आसक्ति का अभाव। पदार्थों के प्रति आसक्ति का नाश होने पर ही तीव्र वैराग्य होता है। वैराग्य से ज्ञान होता है। ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। 'गुरु बिन होइ न ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग बिनु।' भगवान का अनुग्रह बड़ा विचित्र है। वे पहले राग पैदा करते हैं– धन वैभव बढ़ाते हैं फिर छिपकर देखते हैं कि इसका उपयोग जीव किस तरह करता है। योगी वस्तुओं का उपयोग करता है और संसारी व्यक्ति उनका भोग करता है। उपयोग करते समय योगी वस्तु का स्वरूप नष्ट नहीं करता कम से कम वस्तु से जीवन निर्वाह करता है---त्याग पूर्वक भोगता है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' के सिद्धान्त को जीवन में अपनाता है जबकि भोगी पुरुष वस्तु को समूल नष्ट कर समस्त पर अपना अधिकार करना चाहता है। जल दूषण, पर्यावरण दूषण इसी प्रकृति के परिणाम हैं। भगवान देखते हैं कि जो कुछ वस्तु उन्होंने दी है उसका उपयोग कैसे करता है, त्याग और समर्पण तथा सेवा द्वारा अथवा, संग्रह, अधिकार और भोग द्वारा। जब उसका अहंकार बढ़ जाता है तो प्रभु पूर्ण अनुग्रह करते हैं। रावण का संहार अहंकार का समूल नाश है। अहंकार से व्यक्ति ससीम बन जाता है, असीम के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए, असीम होने के लिए अपनी सीमायें तोड़नी आवश्यक हैं। दीवारें टूटी नहीं कि दीदार हुआ समझो। प्रभु के अनुग्रह का लक्षण है—प्रेम से अन्तःकरण भर जाय, लौकिक प्रेम तो घटता रहता है पर प्रभु की कृपा से यदि प्रेम उत्पन्न हो जाता है तो वह अविरल रति होती है सांसारिक प्रेम वासना और लालसा युक्त होता है किन्तु प्रभु प्रसाद से शुद्ध, प्रेम के लिए प्रेम, विमल प्रेम होता है। लौकिक प्रेम धीरे-धीरे पुराना और आकर्षण हीन होता जाता है किन्तु प्रभु का प्रेम नितनूतन होता जाता है।

जिस पर प्रभु सच्चा अनुग्रह करते हैं उसे प्रतिकूल वृत्ति देकर बाहरी जगत् में दुःख और दोष का दर्शन कराते हैं। राग में दुःख होते हुए भी उनमें दोष दृष्टि नहीं हो पाता अतः–वैराग्य भान नहीं आ पाता। उसके अभाव में समत्व भाव और ज्ञान नहीं हो पाता। जिस पर प्रभु अपना परम अनुग्रह करते हैं उसे अकिञ्चन बना देते हैं। यदि जीवन में त्याग, समर्पण और सेवा भाव विकसित होता रहे तो

वह भी वैराग्य में बदल जाता है। जिनके जीवन में इन गुणों का विकास नहीं हो पाता, आसक्ति का बन्धन दृढ़ हो जाता है, उन पर प्रभु सच्ची कृपा करते हैं। श्रीमद्भागवत् में भगवान कहते हैं:—

यस्याहमनुगृह्णामि
हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य
स्वजना दुःख दुःखितम् ॥ १०/८
स यदा वितथोद्योगी
निर्विण्णः स्याद् धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये
मदनुग्रहम् ॥ १०/९

अर्थात् जिस पर प्रभु अनुग्रह करते हैं उसका धन धीरे-धीरे नष्ट कर देते हैं, जिससे कुटुम्बीजन उसे निर्धन मानकर उसका त्याग कर देते हैं। वह बार-बार धन प्राप्त करने की चेष्टा करता है और असफल होकर दुःखी होता है। अन्त में प्रभु भक्तों की शरण में जाता है और उनके सहयोग से आश्रित होकर प्रभु का हो जाता है जब बाहर के सारे सहारे छूट जाते है तो प्रभु उसे अपना लेते हैं, और अपनी सबसे मूल्यवान वस्तु 'भक्ति' देकर उसे निहाल कर देते हैं। उसे पाकर सारी कामनायें समाप्त हो जाती हैं। भगवान से यही प्रार्थना करता है भक्त।

अब करि कृपा करहु यह भाँती।
सब तज भजन करहुँ दिन राती॥

आत्मा चित्त और चित्त की वृत्तियों से पृथक् है। जब जीवात्मा किसी वस्तु के देखने आदि की इच्छा करता है, तब नेत्रादि के द्वारा उसकी प्रेरणा से, चित्त की वृत्ति, बाहर निकल कर दृश्य वस्तु के रूप में परिणत हो जाती है और इस प्रकार पदार्थाकार हुई चित्त वृत्ति जिस मार्ग से बाहर गई थी उसी के द्वारा चित्त (अन्तःकरण) में और चित्त के द्वारा जीव तक पहुँच जाती है और इस प्रकार ज्ञेय वस्तु का ज्ञान जीव को हो जाया करता है। वृत्ति और वृत्तिमान में समवाय सम्बन्ध होने से चित्त ही वृत्ति रूप कह दिया जाया करता है। चित्त अयस्कांत मणि (चुम्बक पत्थर) के सदृश है जो यदि रोका न जावे तो लोहे के सदृश विषयों को अपनी ओर खींच लिया करता है इसलिये उसके निरोध की जरूरत है। परंतु जीव स्फटिक मणि (बिल्लोर) की भांति है जो स्वयं तो सदैव शुद्ध रहता है परन्तु बाहर से देखने वालों को, समीपस्थ रूप रंग वाले पदार्थ के सदृश रूप रंग वाला प्रतीत हुआ करता है। इसी बाह्य और स्थूल दृष्टि से जीव को चित्त वृत्ति का रूप धारण कर लेने वाला कहा और समझा जाया करता है।

उपासना

श्री रामसजीवनसिंह

छापा माला तिलक आदि से परे
बाह्य आडम्बर से मुक्त
आन्तरिक शक्ति से संयुक्त
उपासना योग का विषय है
जहाँ चित्त-वृत्तियों का विलय
धारणा ध्यान समाधी का उदय
अलौकिक शक्ति का सानिध्य
सन्निहित है सच्चा आनन्द
अखण्ड मण्डलाकार प्रकाश के रूप में
दीखता है सच्चिदानन्द
वहाँ वासना का स्थान नहीं
भासित होता है एकदम सही
कैसे होता है ?
जैसे लोहा पारस छूता है
जानते हो—
बिना सूर्योदय के
कभी कमल नहीं खिलता
ठीक इसी प्रकार
बिना सद्गुरु - कृपा के
मार्ग भी सही नहीं मिलता ।

❋ सद्गुरु की प्रसन्नता ❋

❋ डा० श्री विजयसिंह, गोरखपुर

योग तथा तन्त्र मार्ग की साधनाओं में गुरुदेव की प्रसन्नता से ही साधक को सफलता प्राप्त होती है अन्यथा साधक स्वतन्त्र रूप से साधना करता हुआ मद-मोह, काम-क्रोध के वशीभूत होकर साधन-भ्रष्ट हो जाता है। योग में ज्योंही सद्गुरु कृपा से शक्तिपात पाकर साधक सम्प्रज्ञात में प्रवेश करता है, त्योंही देव-माया तथा अन्य उपदेवताओं के उपद्रव उसे अनुभव में आने लगते हैं। जिन साधकों की निष्ठा गुरु के चरण कमलों में दृढ़ है वे सहज ही इन अन्तरायों को पार पा लेते हैं अन्यथा मन की शक्ति के उदय होते ही दंभ का भी विकास होता है। जो साधक को साधना के मूल ध्येय से पराङ्मुख बना देता है यहां हम सिद्धमार्ग के अनुयायी सन्त श्री मुक्तानन्द जी के उद्बोधनों को लेख रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं जिसे पढ़कर अवश्य ही सिद्धयोग के साधकों को अपूर्व बोध जाग्रत होगा—

शक्तिपात अथवा क्रियायोग में, सिद्धा-विद्या अथवा कुण्डलिनी महायोग में गुरु-कृपा ही तरणोपाय है। इस मार्ग में गुरु के मार्ग-दर्शन बिना पूर्णता पाना असम्भव है। जो लोग गुरु आज्ञापालन में आलस्य, प्रमाद, अल्प श्रद्धा, गुरु में दोष दर्शन आदि करते हैं उनमें विकसित आत्म-शक्ति कालान्तर में नष्ट हो जाती है।

सिद्ध विद्यार्थियों में क्रियात्मक रूप से रहने वाली शक्ति जिन गुरु से प्राप्त है, प्राप्ति के बाद भी जिनके शासन से वह शासित है, उन सद्गुरु के विषय में यदि वे सन्देह, दोष-दृष्टि, संकल्प-विकल्प करें तो वह सर्वज्ञ शक्ति क्या उन सिद्ध विद्यार्थियों में प्रसन्नता से रहेगी ? इस मार्ग में 'गुरु कृपा हि केवलम्'' और 'गुरोराज्ञा हि केवलम्' है।

मुक्तानन्द सत्य कहते है कि सब विद्याओं में, मोक्ष-धर्म और स्वस्वरूप विमर्श में श्रीगुरु-कृपा ही प्रधान है। ज्ञानेश्वर देव का कथन है—तुम्हारा पुरुषार्थ, तुम्हारा जप, तप, योग साधन सबके सब तभी फलरूप होंगे जब श्री गुरु कृपा से लब्धिकाल का उदय होगा। साधक याद रखें कि वे अपने गुरु को जितना महान, श्रेष्ठ, पूर्ण सिद्ध, सामर्थ्यवान समझते हैं, श्री गुरु उतनी ही सामर्थ्य लेकर उसके

साथ खड़े रहते हैं। प्यारे सिद्ध विद्यार्थियो! पहले मैंने किया, फिर तुमको कहता हूँ। ऋषि का कथन है—

श्रीगुरुचरणाम्भोजं
सत्यमेव विजानताम्।
जगत् सत्यमसत्यं वा
नेतरेति मतिर्मम्॥

हे मुमुक्षु जनो! श्री गुरु के चरण कमल को सत्य ही जान लो। इतना बहुत हो गया। तदन्तर जगत सत्य है या असत्य है यह जानने की कोई जरूरत नहीं। यह वाद पंडितों के लिये रहने दो। सद्गुरु 'तत' और 'त्वम्' रूपी चरण ही 'असि' पद रूप से पूज लेने से साधक को प्राप्त करने को कुछ शेष नहीं रहता।

हे सिद्ध विद्यार्थियो! हृदय से श्री गुरु का सन्मान करो। हृदय से उनकी पूजा करो। हृदय से उनको प्रेम करो। सर्व सिद्धियां आकर तुम्हारे पास पानी भरने के लिए खड़ी रहेंगी।

गुरुसन्तोषमात्रेण
सिद्धिर्भवति शाश्वती।
अन्यथा नैव सिद्धिः
स्यादभिचाराय कल्पते॥

जगत में जिसने भी सिद्धि पाई है वह श्री गुरु से ही पाई है। गुरु से अनुग्रहीत जीव, परम स्वतन्त्र, मुक्त आत्मा बन जाता है। शाश्वत सिद्धि के लिए गुरु-सन्तोष की अत्यन्त आवश्यकता है। गुरु बिना ही मनुष्य दुःखी होता है, गुरु पाके ही सुखी होता है। इसलिये गुरु में आत्म-समर्पण करके गुरु-भाव को अपनाओ। थोड़ा सा ध्यान लगा, थोड़ी सी क्रियायें हुयी, थोड़ी ज्योति दीखी, यह गुरु-भाव नहीं है। गुरु-भाव इससे बहुत दूर है। तुम अपने गुरु में जितनी मात्रा में भाव को बढ़ाओगे उतनी ही उच्च भूमिका पर पहुंच जाओगे।

देवे तीर्थे मन्त्रे
दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य
सिद्धिर्भवति तादृशी॥

सम्पूर्ण जगत चिति का क्रीडांगन है। परमात्मा का प्रकट रूप है, सिद्धि विद्यार्थियों का अपना स्वस्वरूप वैभव है। उसमें श्री गुरुदेव की सर्वत्र व्याप्ति है। इस लेख में श्री गुरु को कैसा समझना चाहिए इस पर अधिक जोर दिया गया है। साधक इस विषय में पूर्ण जागरूक रहें। जो चित् शक्ति विलास है वही श्री गुरुदेव का विश्वरूप है। वही शक्ति सद्गुरु होकर ज्ञान देती है। वही शिष्य होके ज्ञान ग्रहण करती है। वही पूर्ण सद्गुरु, शुद्ध-

ज्ञान का उपदेष्टा और महायोग एवं सिद्ध-विद्या का प्रवर्तक है। जिसके बारे में आगम कहता है—मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वरः। स्वयं परमेश्वर ही गुरु रूप में मनुष्य देह धारण करके छिपकर रहा है।

मुक्तानन्द जी कहते है—आजकल सिद्ध-विद्यार्थियों में जो दुर्बलता, साधन शिथिलता और स्फूर्तिहीनता दीखती है, उसका कारण, गुरु की अप्रसन्नता है। गुरु प्रसाद से ही बुद्धि में स्फूर्ति, गुरु प्रसाद से ही सर्व दुःखों का नाश, गुरु प्रसाद से ही साधन में रति होती है। गुरु प्रसाद से ही जप में रुचि होने के कारण यौगिक क्रियायें स्वतः होती हैं। उनकी कृपा से ही समाधि मिलती है। अतः याद रक्खो। किंचित मात्र गुरु कृपाग्नि की चिनगारी शिष्य में गिरते ही, उसमें एक अलौकिक भाव का उदय होता है।

गुरु की प्रसन्नता कब प्राप्त होती है? इस प्रश्न को हल करते हुए श्री मुक्तानन्द जी कहते हैं—यह मत समझो कि गुरु के सामने 'वाह गुरु' 'वाह गुरु' मुख-स्तुति करते रहने से वह सन्तुष्ट होंगे। न तो वस्त्र देने से, न तो द्रव्य देने से, इन बातों से गुरु को क्या सन्तोष होना?

श्री गुरु तभी सन्तुष्ट होते हैं जब शिष्य उनमें मिलकर गुरु ही बन जाता है। शिष्य जब अपनी गुरु प्रदत्त शक्ति को विकसित करता हुआ पूर्णत्व की ओर बढ़ता है तब स्वतः ही श्री गुरुदेव सन्तुष्ट होते हैं। आनन्द कन्द योग-योगेश्वर सद्गुरु देव जी का कथन है जिसे हमको प्रसन्न करना है उसे हमें अपना तीन घण्टा समय दान करना चाहिए। इन तीन घण्टों मे हमारे बताये साधना मन्त्र का निष्ठापूर्वक जाप एवं ध्यान जो करता है उस पर सद्गुरु प्रसन्न होते हैं।

❀ पूर्ण परात्पर श्रीभगवान ❀

एक देश में स्थित रवि करता दिग्दिगन्त में पूर्ण प्रकाश,
उसी तरह सम्पूर्ण क्षेत्र में क्षेत्री करता नित्य विकास।
क्षर - अक्षर - अतीत पुरुषोत्तम, जीवरूप है जिनका अंश,
क्षर होने से प्रकृति - राज्य में पाता जन्म, दुःख विध्वंस ॥

परमहंस मुनि मन-इन्द्रिय को वश में करके धरते ध्यान,
नेति - नेति कर ब्रह्मरूप में, पाते जिनका अनुसन्धान,
देह-प्राण-मन अर्पित करके प्रियतम का करते गुणगान,
अनायास उनको मिल जाते, पूर्ण परात्पर श्रीभगवान ॥

भक्ति-शास्त्र

ज्योतिष कलानिधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा

भक्ति और योग एक ही वस्तु का दो प्रकार से उल्लेख मात्र है। जहां भक्ति है वहां योग स्वयं प्रतिष्ठित है। योग की सोपान पर पहला कदम रखने के साथ भक्ति का वरण हो जाता है।

योग की साधनायें कई हैं परन्तु भक्ति उन सबमें ओत-प्रोत है। गुरु के चरणों में भक्ति न हो तो योग के पथ पर बढ़ने की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। भक्ति की भी साधनायें कई हैं। भक्ति में योग उसी प्रकार सन्निहित है जिस प्रकार दूध में मक्खन है। भक्ति योगी को योग के लिए व उससे प्राप्त होने वाली शक्तियों के लिए कोई प्रयास करना नहीं पड़ता, वह समस्त शक्तियां अपने आप उसका वरण करने आ जाती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इन शक्तियों से समाविष्ट भक्त इनकी प्राप्ति का किञ्चित मात्र अभिमान नहीं करता। उसके लिए इनका कोई महत्त्व ही नहीं होता। अतः योग की चरम सिद्धि की अवस्था ही प्रकारान्तर से भक्ति-योग के नाम से वर्णित की जाती है। इसी कारण श्रीमद्भागवत में कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयो:
निर्ग्रन्था: अप्युरुक्रमः।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्ति-
मित्थम्भूत गुणो हरिः ॥

वे लोग जो अपनी आत्मा में ही रमण करते हैं, सतत मनन करने के कारण जो लोग 'मुनि' कहलाते हैं, जिनकी समस्त गांठें खुल चुकी हैं और अज्ञान रूपी हृदयग्रन्थि से जो मुक्त हो चुके हैं एवं जो ऊर्ध्वमार्ग को अपना चुके हैं वे सभी अहैतुकी भक्ति करते हैं। उन्हें भक्ति करने की वस्तुतः क्या आवश्यकता है? वे तो सभी आवश्यकताओं से मुक्त हैं, फिर भी वे भक्ति करते हैं क्योंकि श्री हरि का यह गुण अपनी विशिष्टता है कि वे ऐसे महात्मा लोगों को अपनी अहैतुकी भक्ति के लिए आकृष्ट करते हैं। इसी आकर्षण गुण से विभूषित होने से ही उन्हें 'कृष्ण' नाम मिला है।

संसार में दो प्रकार की शक्तियां हैं। एक सात्त्विकी दूसरी तामसी।

द्विधा ममास्ति वै शक्ति-
र्विभक्ता पृथिवीतले।

सात्त्विकी तामसी चेति
अधिष्ठन्ति यां सदा ॥

देवता लोग सात्त्विकी शक्ति में और दानव लोग तामसी शक्ति में अधिष्ठान करते है।

सात्त्विकी तामसी चेति
अधितिष्ठन्ति यां सदा।
देवाश्च दानवाश्चैव
मदाज्ञावशवर्त्तिनः ॥

देवताओं की स्थिति स्वाभाविक रूप से ऊर्द्ध लोक में और दानवों की अधोलोक में है। परन्तु बीच-बीच में देवासुर संग्राम हुआ करता है।

देवानामूर्ध्वलोकेषु स्थितिः
स्वाभाविकी मता।
असुराणामधोलोके
वसतिर्विनिवेशिता ॥

देवता तथा ऋषिगण पृथ्वी पर ईश्वरावतार के समान अवतार धारण कर ज्ञान और शक्तियों की साम्यता का प्रचार करते हैं। भगवदीय ज्ञान ज्ञानियों के अन्तःकरण में सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित कर देता है।

देवास्तथर्षयः सर्वे
मेऽवतार इव क्षितौ।
भूत्वावतारं मे ज्ञानशक्त्योः
साम्यं वितन्वते।
मज्ज्ञानं ज्ञानिनामन्त-
र्नित्य भासयतेऽखिलम् ॥

पञ्चकोषों में मेरी शक्ति निरन्तर रहती है। परन्तु उस शक्ति को अज्ञानी लोग नहीं देख सकते। ये पांच कोष हैं—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। साधन मार्ग में साधक जितना ही अग्रसर होगा, इन्हीं पञ्चकोषों की सहायता से उतना ही मेरे निकट पहुँचेगा।

पञ्चकोषेषु शक्तिर्मे तथा
तिष्ठति नित्यशः।
न पश्यन्ति तु तां शक्ति
मज्ञानोपहता नराः ॥
यावतीं प्रौढ़तां याति
साधकः साधनाध्वनि।
तावत्स पञ्चकोशानां
साहाय्यान्मां प्रपद्यते ॥

साधक में जब कुण्डलिनी शक्ति का आविर्भाव होता है तब वह अवश्य ही पञ्चकोषों में मेरे तेज का अनुभव करता है।

यदा कुण्डलिनी शक्तिरा-
विर्भवति साधके।
तदा स पञ्चकोशे मत्ते-
जोऽनुभवति ध्रुवम् ॥

योगीगण इस जगत की मंगल कामना के लिए मुझे या मेरी शक्तियों को देखने की इच्छा से पीठ की संस्थापना के लिए अपने अन्तःकरण को ही उत्तमोत्तम साधन जानते हैं। इससे सुगम, निर्भय और उत्तम अन्य कोई मार्ग नहीं है।

नास्त्यस्मात्सुगमः पन्था
निर्भयश्चाप्ययोत्तमः ।
योगिनो जगतश्चास्य
श्रेयःसंपादनेहया ॥
पीठं संस्थाप्य मां वापि
मच्छक्तीर्द्रष्टुमिच्छतः ।
स्वान्तःकरणमेवास्य
साधनं चोत्तमोत्तमम् ॥

संसार में जितने तीर्थ हैं वे सब पीठ कहे जाते हैं। ऐसे पीठ शक्तियुक्त बहुत से तीर्थ संसार में हैं।

इह यावन्ति तीर्थानि
तानि पीठानि संजगुः ।
पीठशक्तियुतान्यत्र
सन्ति तीर्थान्यनेकशः ॥

निर्गुण ब्रह्म अपने आनन्द के लिए ही सगुण बन जाते हैं और प्रकृति तथा पुरुष के आलिंगन से वह आनन्द प्रकाशित होता है।

निर्गुणं ब्रह्म सगुणं
निजानन्दाय जायते ॥
प्रकाशते च प्रकृति-
पुरुषालिङ्गनादयम् ॥

जो जो भक्त देवता रूप जिस-जिस मूर्ति की श्रद्धा से उपासना करने में प्रवृत्त होता है मैं उस-उस भक्त की उस-उस मूर्ति में वैसी ही दृढ़ श्रद्धा करता हूँ।

यो यो यां यां तनुं भक्तः
श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां
तामेव विद्धाम्यहम् ॥

भक्त तपस्वियों से भी उत्कृष्ट है, ज्ञानियों से भी वह उत्कृष्ट है, कर्मियों से भी। इस कारण आप लोग भक्त होवें। सब प्रकार के योगियों में भी मुझसे पूर्णतया युक्त यथार्थ योगी मैं उसी को मानता हूँ जो मुझमें अपना अन्तःकरण लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है।

तपस्विभ्योऽधिको भक्तः
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाऽधिको भक्त-
स्तस्माद्भक्ता भवन्तु वः ॥
योगिनामपि सर्वेषां
मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां
स मे युक्ततमो मतः ॥

ज्ञान, उपासना एवं कर्म में से किसी एक

को भी छोड़कर किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। अतः बुद्धिमान मनुष्य प्रमाद रहित होकर मरणपर्यन्त तीनों का श्रद्धापूर्वक आश्रय करे।

ज्ञानोपास्ति स्वीयकर्मस्वपास्य-
ष्वेकं मुक्तिर्नैवकस्यापि सिद्धयेत्।
तस्माद्धीमानश्रये दप्रमत्त
स्त्रीण्युक्तानि श्रद्धया देहपातात्॥

भक्ति और उपासना के जितने साधन हैं वे सब केवल भाव शुद्धि से ही यथार्थ फल प्रदान करते हैं।

भक्त्युपासनयोर्यानि
साधनानीह तान्यपि॥
यथार्थफलदानि स्युर्भाव
शुद्ध्यैव केवलम्॥

योग साधन में तो भाव ही प्रधान है।

योगसाधन मध्ये तु भाव एव विशिष्यते।

जब पूर्ण रूप से भाव शुद्धि हो जाती है तब मनुष्यों को पराभक्ति स्वयं प्राप्त होती है।

यदा च पूर्णरूपेण
भावशुद्धिः प्रजायते।
तदा नृणां पराभक्तिः
स्वत एव सुसिद्ध्यति॥

साधक मुझ में जो अनुराग करते हैं उसे ही भक्ति कहते हैं।

मय्येव साधकानां स भक्तिरित्यभिधीयते।

अशेष पुण्यों के प्रभाव से जिनके चित्त आर्द्र (रसपूर्ण) हो गये हों उन्हीं को प्राप्त होने वाली यह भक्ति दो प्रकार की है। एक वैधी, दूसरी रागात्मिका। गुरु के उपदेशामृत से धुलकर मन पवित्र होने पर जब साधक मुझ में ही चित्त का लय करने का प्रयत्न करते हैं और अपनी सब इन्द्रियां मेरी ही उपासना में लगाने की सर्वथा इच्छा करते हैं तब वैधी भक्ति का जन्म होता है। फिर योगाभ्यास कर चित्त वृत्ति का निरोध करते हुए क्रम क्रम से जो धीरवान साधक मेरी भक्ति में डूबता है, अमृत सागर से भी उत्कृष्ट मेरे भक्ति-समुद्र में उसे निमज्जन उन्मज्जन कराने वाली वह मेरी रागात्मिका भक्ति है जो वर्णनातीत है। बिना अनुभव किये इसका रूप भली-भांति विदित नहीं हो सकता। पुण्यात्मा ज्ञानी भक्तों की जो ज्ञानमयी भक्ति है वही शुद्ध पराभक्ति है और परम-कल्याण देने वाली है। चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए और मुझ में उनका स्थिर संयम करने के लिए जो विहित उपाय है वही योग के नाम से जाना जाता है।

अशेष पुण्य सम्भारा-
अमृतार्द्रीकृतचेतसाम्।
लभ्येयं विविधा भाति
वैधी रागात्मिका च सा॥

गुरुपदेश पीयूष
विधौतपूतमानसा ।
मदेकचित्ता भवितुं
यतन्ते साधका यदा ॥
यदा स्वानीन्द्रियादीनि
मदुपास्तौ तु सर्वथा ।
नियोजयितुमीहन्ते
तदा वैधी प्रकाशते ॥
ततो योगं समभ्यस्य
चित्तवृत्तीर्निरुध्य च ।
मद्भक्तौ क्रमशो धीर
साधके सति भजति ॥
मद्भक्ति सागरेऽवर्ण्ये
पीयूषरसजेतरि ।
उन्मज्जयति तं यैव
निमज्जयति च स्फुरम् ॥
सैव रागात्मिका भक्ति-
रतीतवर्णनागतिः ।
विनानुभवमेतस्या
रूपं सम्यग् न बुद्ध्यते ॥
पुण्यानां ज्ञानिभक्तानां
भक्तिर्ज्ञानमयस्तु या ।
सैव शुद्धा पराभक्तिः
परकल्याणसाधिनी ॥

निरोधे चित्तवृत्तीनां
संयमे च मयिस्थिरे ।
विहितो य उपायोस्ति
स एव योग उच्यते ॥

ऊपर जिन श्लोकों का उल्लेख हुआ है वे श्री सूर्य गीता से लिए गये हैं और उक्त भक्ति शास्त्र विवरण भगवान सूर्य ने स्वयं व्यक्त किया है।

भक्ति-शास्त्र के सम्बन्ध में महान योगि-राज श्री तैलंग स्वामी के विचार भी माननीय हैं। नीचे उन्हीं के शब्दों में उनका आदेश व्यक्त है।

पहले इस बात को जानना आवश्यक है कि उपासना किसे कहते हैं। यदि ईश्वर को जानने तथा पाने की इच्छा हो तो उपासना की आवश्यकता है और यदि यह इच्छा नहीं है तो उपासना की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर किसी की खुशामद नहीं चाहते। सब जीवों में उनकी समान दया है। उपासना या आराधना घूस देना नहीं है, यह ईश्वर की विशुद्ध शक्ति को आकर्षित करने का यन्त्र-स्वरूप है। उनको जानने की आवश्यकता होने पर जिस मार्ग से चलने से जाना जा सकता है उसी का नाम उपासना है।

ईश्वरोपासना नितान्त आवश्यक है ऐसा विचार जब स्थिर सिद्धान्त के रूप में होगा

और मन में दृढ़ विश्वास उत्पन्न होगा, तब पहले आसन का प्रयोजन होगा। निर्जन और प्रशस्त कमरे में पहले कुशासन उस पर कम्बल का आसन, उस पर वस्त्र का आसन बिछाकर साधक उस पर उत्तर मुख होकर बैठे। बैठने की मुद्रा ऐसी हो कि शरीर, मस्तक और ग्रीवा समान रेखा में रहें, दाहिना जानु तथा उसके मध्य बायां पदतल और बायां जानु तथा उसके मध्य दाहिना पदतल स्थापन कर सरल भाव से बैठे। तब नयन मुद्रितकर नासिकाग्र अथवा दोनों भ्रू के बीच दृष्टि स्थापित कर शान्त और स्थिर भाव से मन ही मन गुरुदत्त बीजमन्त्र जपे। इसमें ब्राह्मण शूद्र का भेद नहीं है। प्रतिदिन प्रातः तथा सायंकाल कम से कम आधा घण्टा निश्चित मन से बैठना होगा और जब तक आलोक-दर्शन नहीं होता तब तक क्रमशः समय बढ़ाना होगा। मन स्थिर करने के लिए इसकी अपेक्षा सीधा रास्ता और कोई नहीं है। मन स्थिर होने पर फिर आसन की भी आवश्यकता नहीं। जो व्यक्ति विशेष रूप से निष्क्रिय, दिग् देशकालादि की अपेक्षा से रहित, शीत, उष्ण आदि के विनाशक, सर्वव्यापी और नित्य सुख स्वरूप अपने आत्मा का भजन करते हैं। वे सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा अमृत बन जाते हैं।

ईश्वर केवल निराकार ही नहीं बल्कि रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध और भक्ति, दया इत्यादि गुण से परे हैं। आजकल जो लोग निराकार की उपासना करते है वे यह खुद नहीं जानते कि उपासना ठीक हो रही है या नहीं। ईश्वरीय तत्त्व-ज्ञान के लिए साकार स्वरूप के चिन्तन को अवलम्बन करने से साकार उपासना होती है और साकार के चिन्तन बिना जगद् व्यापी ईश्वर की महिमा शक्ति, गुण इत्यादि विषय को हृदयंगम करना ही निराकार उपासना है। सगुण उपासना छोड़कर निर्गुण की उपासना नहीं हो सकती।

जिस प्रणाली से अज्ञान अन्धकार दूर हो उसी का अवलम्बन करना वस्तुतः ईश्वर उपासना है। ईश्वर के अस्तित्व का अन्दर में अनुभव करना ही ईश्वर उपासना है। जिसके द्वारा चित्त शुद्ध, उन्नत और निर्मल हो वही उपासना है। केवल मुख से ईश्वर-ईश्वर कहने से उनकी उपासना नहीं होती। जब तक मनुष्य के हृदय में सामान्य अनित्य सुख की कामना प्रबल रूप से रहेगी तब तक साधक नित्य सुखदाता ईश्वर को वस्तुतः नहीं जान सकेगा।

एकाग्र चित्त होकर जो जैसी कामना करेगा उसकी एकाग्रताके कारण उसे कामनानुसार शक्ति की सहायता मिलती है। भोग-ऐश्वर्य की कामना रहने से भोग ऐश्वर्य फल-दाता शक्ति की सहायता मिलेगी। भोग-

ऐश्वर्य की कामना छोड़कर ईश्वर को पाने की इच्छा रखकर साकार उपासना करने से यथार्थ ईश्वर उपासना होती है।

अपनी आत्मा के साथ जगत की आत्मा को एक तान में मिलाने का नाम योग है। इस तरह योगयुक्त आत्मा अपने को सर्व-भूतस्थ समझते हैं। जो व्यक्ति इस जगत के समस्त भूतों के चैतन्य का अनुभव करते हैं वही जान सकते हैं कि चैतन्य अथवा योग क्या है। वह चैतन्य ही जगत की आत्मा है।

उपासना के द्वारा उपास्य देवता के सम्बन्ध में जिसको 'सोहं' अर्थात् सो ही हम ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है वही ठीक समझते हैं कि हम कौन हैं। यदि चित्त में चिन्मय की मूर्ति प्रतिफलित करली जाय तो कायिक क्लेश, तीर्थ पर्यटन, उपवास इत्यादि की कोई आवश्यकता नहीं है। मन परिशुद्ध होने से और जीव आत्म-शुद्ध होने से, चित्त जब निर्मल होता है तब साधक अपने हृदय में ही सब तीर्थों का दर्शन करता है। यावत् तीर्थ मानव के शरीर में वर्तमान हैं। गंगा नासा-पुट में, यमुना मुख में, वैकुण्ठ हृदय में, वारा-णसी ललाट में, हरिद्वार नाभि में इत्यादि स्वर्ग मर्त्य के लोक यावत् शरीर के अन्दर हैं।

एकाग्रता योग का प्राण है। एकाग्रतावश जब जीवात्मा और परमात्मा एकीभूत होंगे, जीवात्मा तथा परमात्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं रहेगा तभी साधक असली योगी होगा। ईश्वर को पाने के लिए योग के अङ्गों का अवलम्बन नहीं करना पड़ता। भक्ति द्वारा ही वह ईश्वर में समाहित हो सकता है। भक्त भक्ति के द्वारा उसको प्रसन्न करके उनमें समाहित होते हैं और उसी को समाधि कहते हैं। ✡ ✡ ✡ ✡

—❀ संकल्प त्याग ❀—

कर्म फल त्याग के साथ सर्व संकल्प त्याग का भी घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि संकल्प त्याग के बिना कर्मफल त्याग हो नहीं सकता।

सर्व संकल्पों का त्याग किये बिना योग साधना नहीं हो सकती। सर्व संकल्पों का त्याग करने के लिए इन्द्रियों के भोग और कर्मों के फल के भोग भोगने की सब कल्पनाओं को छोड़ना चाहिए। यहां भोग भावना की जड़ ही उखाड़ दी गई है। जैसे कि बालक किसी भी भोग संकल्प को न करता हुआ आनन्द से निर्विकार स्थिति में रहता है, वह निसर्ग सिद्ध निर्विकार स्थिति प्राप्त होनी चाहिए। संकल्प त्याग करने से ही यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। —गीता

卐 नारी और योग 卐

❀ श्रीमती सरिता भारद्वाज सांख्ययोगाचार्य एम. ए. बी. एड.

वेद में कहा गया है कि 'मातृवान्, पितृवान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद'। माता, पिता तथा आचार्य की आराधना, पूजा तथा कृपा से मनुष्य ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और योग प्राप्त करता है। बालक के जीवन की आधार शिला 'माता' होती है। बालक को जन्म देने मात्र से कोई नारी 'मां' नहीं बन जाती। माता का दायित्व सबसे ऊँचा है। जो नारियां अपने मातृत्व का पालन नहीं करती उनकी सन्तान नाममात्र को मनुष्य बनकर रह जाती है। सच्ची माता वह है जो अपनी सन्तान को शूरवीर, भक्त, विद्वान, परोपकारी, तपस्वी, दानी तथा योगी बना दे। अमेरिका के राष्ट्रपति इब्राहिम लिंकन ने एक बार कहा था कि मैं जो कुछ बन सका उसका श्रेय मेरी मां को है। माता और पिता की तपस्या तथा पुण्य सन्तान को महान बनाते हैं। जो माता–पिता जन्म देकर सन्तान को संस्कार नहीं दे सकते, या नहीं देना चाहते--बच्चों का पालन-पोषण दाई, आया या क्रेच अथवा 'बेबी होम' से करवाते हैं – उनके बच्चों में प्रजातीय गौरव की भावना आना कठिन है। बड़े होकर माता पिता के द्वारा लालन–पालन के स्नेह से वंचित सन्तान यदि माता-पिता की उपेक्षा करती है आज्ञा का पालन नहीं करती-या उनकी मान्यताओं को तोड़ देती है तो अस्वाभाविक नहीं। केवल पैसे खर्च कर देने मात्र से माता–पिता का कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता। सृष्टि के मूल में तप-द्वन्द्व सहने की क्षमता है। मनुष्य की निर्मिति भी तप के बिना नहीं हो सकती। मां बच्चे को जन्म देने में कितनी पीड़ा सहन करती है। उससे कहीं अधिक पीड़ा सन्तान के लालन-पालन में उठानी पड़ती है।

आजकल सुखवाद और भोगवाद का बोल बाला है। मातायें अपने बच्चों को अमृत के तुल्य जीवन देने वाला, सभी दुग्धों तथा पोषण देने वाले पदार्थों से श्रेष्ठ अपना दूध नहीं पिलातीं। विशेषज्ञ डाक्टरों का कहना है कि जो बालक अपनी माता के दूध से वंचित रहता है उसके शरीर के अंगों का सन्तुलित विकास नहीं हो पाया तथा उसका शरीर बीमारियों का तुरन्त शिकार हो सकता है। स्तनपान से वंचित बालकों में भावात्मक असन्तुलन तो अवश्य होता ही है। धर्म–संस्कृति सदाचार, सोने-खाने, शौचाचार, स्वच्छता, आस्था और विश्वास, धैर्य, कार्यकुशलता आदि की आदतों

और गुणों का विकास स्तनपान करने की अवस्था में होता है। शिवाजी ने अपनी माता जीजाबाई का स्तनपान करते-करते उनसे वीरता के गुण प्राप्त कर लिये थे। वैज्ञानिक सी. वी. रमण का कथन है कि उन्होंने जिस खोज के द्वारा विश्व के वैज्ञानिकों में अपना यश स्थापित कर नॉबल पुरस्कार प्राप्त किया उसका श्रेय उनकी माता को है। शैशवावस्था में उनकी माँ ने उन्हें पेड़-पौधों में जीवन के प्रति जो आस्था पैदा करदी थी वही बाद में जिज्ञासा तथा अनुसन्धान का विषय बन गई। उनकी माँ कहा करती थी कि रात में तुलसी मत तोड़ा करो क्योंकि उसमें प्राण होते हैं और जैसे रात में सभी प्राणी सोते हैं, वैसे तुलसी का पौधा भी सोता है। बचपन का दिया हुआ माता का पौधे के विषय का यह संस्कार आगे चलकर 'रमन' की खोज का विषय बन गया।

जो मातायें अपनी सन्तान को स्तनपान नहीं करातीं वे बहुत बड़े सुख से वंचित रह जाती हैं। डाक्टरों का मत है कि कैंसर का एक कारण स्तनपान न कराना भी है। इसके मूल में अपने सौन्दर्य की रक्षा की भावना होती है। माता का सौन्दर्य उसकी सुयोग्य सन्तान से बढ़कर और क्या हो सकता है? अज्ञान के कारण आज की मातायें बच्चों को प्रजातीय (Hereditory) अनुभव तथा संस्कार नहीं देतीं। बड़े होकर स्कूलों से जो कुछ गलत सही बच्चा सीख पाता है उससे उसका मन नहीं जुड़ पाता। वे संस्कार उसके खून में रल मिल नहीं पाते। परिणाम यह होता है कि आज का बच्चा कल को माँ बाप बनेगा तो उसकी सन्तान उससे भी आगे स्वधर्म, संस्कृति तथा जातीय गुणों के संस्कारों से शून्य हो जायगी। आज की अनुशासन और मर्यादा हीनता का राजनैतिक कारण के साथ साथ सबसे बड़ा कारण यह भी है कि आज की मातायें देव नहीं रहीं, पिता और आचार्य देव नहीं रहे। देव का अर्थ है—तेजयुक्त, प्रकाश देने वाले, दान शील। जिनका जीवन तपस्वी, तेजयुक्त, कर्मणः भक्ति परायण तथा योगयुक्त है वही किसी को प्रकाश, ज्ञान, संस्कार और दृढ़ता, साहस, विश्वास तथा ऊर्जस्वता दे सकता है सच्ची माता अपनी सन्तान को जैसा बनाना चाहे, बना सकती है।

योगी माता-पिता के घर में देवलोक की आत्मायें जन्म लेती हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि मनुष्य पुण्यों के फलस्वरूप सात्विक भावों में यदि शरीर त्याग करता है तो 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः' के नियमानुसार देवलोकों में चला जाता है। वहां जब तक पुण्यों का क्षय नहीं होता तब तक देवलोक के सुख भोगता है। जैसे पैसे वाले फाइव स्टार होटल में तब तक ऐश करते हैं जब तक उनकी

जेब में पैसा है। पैसा समाप्त होते ही वहां का हिसाब-किताब कर वापिस अपनी जगह आना पड़ता है। वहां के ठाठ-बाट को भोगने से सूक्ष्म मन में ऐश्वर्य की वासना घर कर जाती है अतः मनुष्य लोक में लौटकर वहां जन्म लेते हैं— जहां ठाठ बाट तथा वैसा ही ऐश्वर्य हो। या तो वे 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' (गीता)—के सिद्धांतानुसार पवित्र कुलाचार तथा धर्मपरायण माता-पिता के घर जन्म लेते हैं या धन-धान्य सम्पन्न कुटुम्ब में जन्म लेते हैं। अथवा योगियों के कुल में ही उनका जन्म होता है। योगियों के कुल में ही उनका जन्म होता है। योगियों के कुल में जन्म होना महान पुण्यों के फलस्वरूप निवृत्ति प्रधान प्रारब्ध के फलस्वरूप हो पाता है। इस प्रकार का जन्म बहुत मुश्किल से मिल पाता है। जो व्यक्ति जीवन भर निष्काम कर्म करते रहते हैं वे योगिनी माताओं की कोख से जन्म लेते हैं। कुछ शारीरिक लक्षणों से देवलोक की आत्माओं का अनुमान लगाया जा सकता है। देवलोक के सुखों का वासना के कारण वहां से आयी हुई आत्माओं में सुखभोग की बलवती इच्छा रहती। आकृति सुन्दर, बड़े-बड़े कमल जैसे नेत्र, सुरीला कण्ठ वाणी मधुर, नृत्य, संगीत तथा कलाओं का शौक तथा शरीर से सुन्दरगन्ध, दिव्यानुभूति, स्वप्न में देव दर्शन आदि-आदि लक्षणों से ऐसे प्राणियों का अनुमान लगाया जा सकता है।

यदि माता योग परायण है तो सन्तान को आसानी से योग समाधि मिल जाती है। माता दुग्ध पान के समय, सुलाने के समय, भोजन कराने के समय अपने स्पर्श, भाषण तथा लोरियां सुनाने के बहाने बालक के हृदय का निर्माण करती रहती है। पिता से सन्तान को बुद्धि मिलती है और माता से हृदय मिलता है। माता बच्चे को हृदय से चिपटाकर बालक के सारे कष्टों की निवृत्ति करती है। अपनी प्रेम-भरी दृष्टि तथा मुस्कान एवं स्पर्श से बालक के हृदय की शक्तियों का विकास करती है। हार्द, स्पर्श, दृग् तथा मंत्र दीक्षा खेल खेल में अपनी सन्तान को देकर समर्थ मां उसे महान योगी बना सकती है। वासना, प्रमाद और अज्ञान के कारण मातायें बच्चों को या तो अच्छे संस्कार देती ही नहीं या अच्छे संस्कारों के नाम पर ऋणात्मक संस्कार देती हैं। प्यार के नाम पर बच्चों के मन में स्थायी भय या परिवार के प्रति घृणा के भाव भर दिया करती हैं 'बिल्ली आ गई, कुत्ता काटेगा, हौवा आया, भूत आ गया'—आदि-आदि बातों से डराकर बालक के मन में स्थायीभय भर देती हैं जिससे बड़े होकर वह अकारण ही बचपन की मां की गलत शिक्षा के कारण अंधेरे से भय, ऊँचाई से भय, एकान्त से भय, कुत्ते से भय, चूहे से भय, अपरिचित व्यक्ति तथा स्थान से भय मानने

लगता है या आसक्ति वश Home sick घर में रहने की इच्छा वाले, अन्तर्मुखी बन जाते हैं। भावना ग्रन्थियों तथा तनावपूर्ण जीवन तथा व्यावहार गत असन्तुलन के मूल में माताओं की शैशव कालीन गलत शिक्षा होती है। जो माता अपनी सन्तान से सच्चा स्नेह करती है वह उसे ज्ञानी, ध्यानी, बड़ों की सेवा करने वाला, परिश्रमी, मोह और ममता रहित सबसे प्रेम करने वाला बनाती है। स्त्री घर की लक्ष्मी इसीलिए कही गई है कि घर से सम्बन्धित सारी बातों को बनाने या बिगाड़ने में उसका सबसे बड़ा हाथ है।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए आयी हुई गोपियों को स्वगृह लौट जाने का आदेश देने के प्रसंग में भगवान नारियों के कर्त्तव्य का निर्देश करते हैं कि—

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां
परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः
प्रजानां चानुपोषणम् ॥ १०/२४

स्त्रियों का परमधर्म यही है कि वे पति और उसके भाई बन्धुओं की निष्कपट भाव से सेवा करें और सन्तान का भली प्रकार पालन पोषण कर उसे सुयोग्य तथा अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने की शक्ति से सम्पन्न बनावें। स्त्री का रूप भार्या, माता, सेविका तथा गुरु का होता है। जो नारी अपने सभी दायित्वों का कुशलता से निर्वाह करना जानती है वही वास्तव में गृह लक्ष्मी है। वह पति को शिव बना सकती है तथा सन्तान को देशभक्त, ईश्वरभक्त, समाज का नेता, ज्ञानी तथा वीर बना सकती है। जो सब परिवार की सुख-सुविधाओं का उपयोग अपनी साज सज्जा के लिए करने में लगी रहती हैं वे अविद्या और माया रूपी नारियां घरों को नरक बना दिया करती हैं। उनकी कोख से दिव्य आत्मायें कभी जन्म नहीं ले सकतीं। किसी संस्कार वश यदि जन्म ले भी लें तो वे भोग वासना के कीड़े मात्र बनकर मनुष्य शरीर पाने की पुनः अधिकारिणी नहीं रह पातीं।

卐 आध्यात्मिकता 卐

संसार में सर्वाधिक व्यावहारिक चीज है आध्यात्मिक होना। इसके लिये किसी विशेष समय, स्थान अथवा परिस्थिति की जरूरत नहीं पड़ती। इसका साधारण दैनिक दिनचर्या से बाहर की किसी चीज से अनिवार्यतः सम्बन्ध नहीं है, आध्यात्मिक होने के लिये देर सबेर सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यह तो स्थायी महत्व, बदलती परिस्थिति, सम्भाव्य घटनाओं के प्रति उचित मानसिक दृष्टिकोण का और साथ ही अवश्यम्भावी के प्रति स्वस्थ विचारधारा का केवल सीधा-सादा प्रश्न है।

श्री सद्‌गुरु भक्ति तथा उसके फलस्वरूप

❈ श्रद्धावान महिला की सद्‌गति ❈

❀ श्री आत्माप्रसादसिंह एडवोकेट, वाराणसी

भारतीय धर्म-शास्त्र में मान्यता है कि महिलाओं के लिए पति ही परमेश्वर है। पति की सेवा ही परमेश्वर की पूजा है। महिला वृन्द यदि पति की श्रद्धा व विश्वास से पूजन करे तो अन्य पूजा की आवश्यकता नहीं। अन्य प्राचीन आर्य ग्रन्थों के अतिरिक्त महासन्त तुलसीदास जी के शब्दों में माँ अनसुइया भी पति पूजा की गरिमा का निम्नांकित रूप से "रामायण" में वर्णन किया है—

अनुसुइया के पद गहि सीता।
मिली बहोरि सुसील बिनीता॥
रिषि पतिनी मन सुख अधिकाई।
आसिष देइ निकट बैठाई॥
दिव्य बसन भूषन पहिराए।
जे नित नूतन अमल सुहाए॥
कह रिषिबधू सरस मृदु बानी।
नारिधर्म कछु ब्याज बखानी॥
मातु पिता भ्राता हितकारी।
मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता बयदेही।
अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपद काल परिखिअहि चारी॥
वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना।
अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना।
नारि पाव जमपुर दुःख नाना॥
एकइ धर्म एक व्रत नेमा।
काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥

इसके उपरान्त उत्तम, मध्यम, निकृष्ट, अधम वर्णन करते हुए श्री सन्त तुलसीदास ने वर्णन किया कि—

पति बंचक परपति रति करई।
रौरव नरक कल्प सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी।
दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई।
पति व्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जह जाई।
बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

पाठक वृन्द भली-भाँति उपरोक्त पंक्तियों से परिचित ही होंगे।

उपरोक्त घटना रामायण काल की महासन्त तुलसी ने कलिकाल में भी महिलाओं के पथ-प्रदर्शन हेतु प्रस्तुत किया है।

उपरोक्त नारि धर्म के साथ यदि गुरु-भक्ति का समावेश भी रहे तो फिर पूछना ही क्या ? श्री गुरु-भक्ति एक स्वतन्त्र ही सत्ता है जो चाहे वह स्त्री हो या पुरुष या पतियुक्त स्त्री हो या पतिहीन, बालक, वृद्ध, युवा सभी के जीवन को सफल करने व मोक्ष देने वाली है। सद्गुरु सत्ता, तो पति भक्ता हो अथवा व्यभिचारिणी यदि पूर्व संस्कार के उदय होने अथवा अन्य सुयोगवश, की कृपा मिल गई तो अवशेष ही क्या रह गया। यही कृपा रामरती जैसी स्त्री को भी देवी बना दिया।

प्रस्तुत लेख में एक महिला की अनन्य श्री गुरु भक्ति से एक साधारण व अक्षय किन्तु श्रद्धावान महिला को सद्‌गति किस प्रकार मिली, स्पष्ट होता है।

उक्त महिला का नाम राधिका देवी व पति का नाम श्री नरसिंह पांडे है। वर्तमान समय में दम्पति मुहल्ला नदेसर शहर वाराणसी में लेखक के मकान के पास ही रह रहे थे। पति महोदय यद्यपि गुरु भक्त व आस्तिक पहले नहीं थे किन्तु उनकी अनुमति से धर्मपत्नी ने लेखक की धर्म-पत्नी के विशेष प्रेरित करने पर तथा पूर्वजन्म के सुसंस्कारवश दीक्षा श्री सद्गुरु देव से लगभग चार वर्ष पूर्व वाराणसी में ली। दीक्षा लेने के पूर्व श्रीमती राधिकादेवी पति की सेवा करना, उनके चरण-अंगूठा को प्रतिदिन प्रातःकाल धोकर पीना आदि अपना नित्य कर्म बना लिया था। यहां तक कि दमा की बीमारी में पहले से पीड़ित रहने के उपरान्त भी पति के अनुपस्थित रहने पर फलाहार पर रहना और पतिदेव के दर्शन के उपरान्त ही अन्न ग्रहण करना उनके पतिव्रत नियम का अभिन्न अङ्ग हो गया था। दीक्षा के उपरान्त आन्तरिक शक्ति का विकास सद्गुरु कृपा से बढ़ने लगा और वह प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में ही दो ढ़ाई घण्टे व शाम को भी एक घण्टे गुरु-मन्त्र का जाप और ध्यान तथा प्रतिदिन एक घण्टे जीवन तत्त्व साधन करने लगी। प्रतिदिन आठ दस रुपये जो श्रीमती राधिका देवी के दवा में व्यय होता था वह क्रमशः कम होकर कुछ भी न रह गया। हाँ दमा कभी कभी उभर जाने पर दवा की आवश्यकता होती थी। दीक्षा के तीन माह के उपरान्त उलहना स्वरूप लेखक से 'श्री पति (उपरोक्त) ने यह कहा कि लेखक ने उनकी बची गृहस्थी को भी उनकी पत्नी को दीक्षा दिलवाकर नष्ट कर दिया, क्योंकि सेलटैक्स के पेशकारी का काम करने के उपरान्त तथा शाम को घर आने पर जब उनकी चाह पत्नी के जल, जलपान पाने

की होती है तब पता यह चलता कि पेशकार महोदय की पत्नी ध्यान में हैं अथवा जीवन-तत्त्व कर रही हैं। अन्ततोगत्वा लेखक की सलाह पर श्याम का ध्यान अभ्यास कम करके पत्नी अपने पति महोदय के साथ कार्य पर से आगमन के समय उनके जलपान व सेवा कार्य के लिए तैयार रहती थीं। लगभग दो वर्ष दीक्षा के उपरान्त काल-चक्र का अन्तिम क्षण आ धमका। श्रीमती राधिका को पूर्ववत् दमा का प्रकोप हुआ। दो दिन के बीमारी के दौरान उसका गुरु-मन्त्र जाप दृढ़तापूर्वक चलता रहा। तीसरे दिन रात्रि को डाक्टर महोदय ने सुई द्वारा दवा दी और कहा कि सामान्य रूप से ही पूर्ववत् दमा का प्रकोप है। पत्नी को नींद आई और पुनः रात्रि को तीन बजे नींद खुलने पर शौच अपने पति के सहारे गई। वापस आने पर पत्नी के बार-बार कहने पर कि मेरे श्याम ! मेरे श्याम ! मेरे कहां है ? उनके देवर की पुत्री ने श्री सद्गुरु देव जी तथा श्री महाप्रभु जी का स्वरूप लाके पास ही में एक टेबल पर रख दिया। श्रीमती राधिका की दृष्टि श्री चरणों में केन्द्रित रही व श्वास जप चलता रहा। वे रुक-रुक कर मेरे श्याम ! मेरे श्याम कहती रहीं। उल्लेखनीय है कि श्री सद्गुरु देव जी को वह भी श्याम या श्रीकृष्ण रूप मानकर अर्चन, पूजन व जप करती रहीं। मानसिक अवस्था उपरोक्त के साथ-साथ उसके पतिदेव उसके शरीर को अपने सहारे लेकर चारपाई पर स्थित रहे। अगाध प्रेम व अटूट दृष्टि श्री चरणों पर रखते हुए श्रीमती राधिका ने अपना अन्तिम श्वास लेते हुए अपने पति के गोद में लेटकर इस नश्वर शरीर को छोड़ दिया।

यह है श्री सद्गुरु देव के चरणों में अगाध श्रद्धा, निष्ठा, तत्परता तथा स्वाध्याय का फल जो श्रीमती राधिका को सद्गति प्राप्ति के रूप में प्रदान किया गया।

—❀ गृहस्थ आश्रम ❀—

जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है इससे गृहस्थ ज्येष्ठ आश्रम है, अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है। इसलिये जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से गृहाश्रम को धारण करे। —योगी दयानन्द

❋ मुक्तिप्रद योग का वर्णन ❋

❀ प्रेषक : श्री मानिकचन्द ऊमर वैश्य

मन एव मनुष्याणां
कारणं बन्ध मोक्षयोः ।
बन्धस्य विषयासङ्गे
मुक्तं निर्विषयं तथा ॥

मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयों से दूर हटकर वही मन मोक्ष का साधक बन जाता है अतः विवेक-ज्ञान सम्पन्न विद्वान पुरुष मन को विषयों से हटाकर परमेश्वर का चिन्तन करें। जैसे—चुम्बक अपनी शक्ति से लोहे को खींचकर अपने में संयुक्त कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म चिन्तन करने वाले पुरुष के चित्तको परमात्मा अपने स्वरूप में लीन कर लेता है।

आत्म-ज्ञान के उपायभूत जो यम-नियम आदि साधन हैं, उनकी अपेक्षा रखने वाली जो मन की विशिष्ट गति है, उसका ब्रह्म से संयोग होना ही 'योग' कहलाता है। जिनका योग इस प्रकार की विशेषता वाले धर्म से युक्त होता है, वह योगी मुमुक्षु कहलाता है। पहले-पहल योग का अभ्यास करने वाला योगी युंजान कहलाता है और उसे जब पर ब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है, तब वह 'विनिष्पन्न समाधि' कहलाती है। यदि किसी विघ्न दोष से उस युंजान-योगी का चित्त दूषित हो जाता है तो दूसरे जन्मों में वह योग भ्रष्ट-योगी अभ्यास करके मुक्ति पा जाता है।

'विनिष्पन्न समाधि' योगी योग की अग्नि से अपनी सम्पूर्ण कर्मराशि को भस्म कर डालता है। इसलिये उसी जन्म में शीघ्र मुक्ति पा लेता है। योगी को चाहिये कि वह अपने चित्त को योग साधन के योग्य बनाते हुए ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह का निष्काम भाव से सेवन करें। ये पांच यम हैं। इनके साथ शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा परब्रह्म परमात्मा में मन को लगाना—इन पांच नियमों का पालन करें। इस प्रकार ये पांच यम और पांच नियम बताये गये हैं। सकाम भाव से इनका सेवन किया जाय तो ये विशिष्ट फल देने वाले होते हैं और निष्काम भाव से किया जाय तो मोक्ष प्रदान करते हैं।

यत्नशील साधक को उचित है कि स्वस्तिक, सिद्ध, पद्म आदि आसनों में से किसी एक का आश्रय ले, यम और नियमों से सम्पन्न हो नियमपूर्वक योगाभ्यास करे। अभ्यास से साधक जो प्राणवायु को वश में करता है उस क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। उसके दो भेद हैं–सबीज और निर्बीज। जिसमें भगवान के नाम और रूप का आलम्बन हो, वह सबीज प्राणायाम है और जिसमें ऐसा कोई आलम्बन न हो वह निर्बीज प्राणायाम कहा जाता है। जब योगी प्राण और अपान एक दूसरे का पराभव (दबाते) करते हैं तब क्रमशः रेचक और पूरक नामक दो प्राणयाम होते हैं। इन दोनों का एक ही समय संयम (निरोध) करने से कुम्भक नामक तीसरा प्राणायाम होता है।

योग वेत्ता पुरुष प्रत्याहार का अभ्यास (इन्द्रियों को विषयों की ओर समेट कर अपने भीतर लाने का प्रयत्न) करते हुवे शब्दादि विषयों में अनुरक्त हुई इन्द्रियों को रोककर उन्हें अपने चित्त की अनुगामिनी बनावें। ऐसा करने से चंचल इन्द्रियां भलीभांति वशमें हो जाती हैं। यदि इन्द्रियां वश में नहीं है तो कोई योगी उनके द्वारा योग का साधन नहीं कर सकता है। प्राणायाम से प्राण अपान रूप वायु और प्रत्याहार से इन्द्रियों को वश में करके चित्त को उसके शुभ आश्रय में स्थिर करे।

अक्षीणेषु समस्तेषु
विशेष ज्ञानकर्मसु।
विश्वमेतत्परं चान्यद्
भेदभिन्नदशां नृप॥
प्रत्यस्तमितभेदं यत्
सत्तामत्रगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं
तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥

—नारदपुराण पूर्वभाग ४७/२७ २८

जब तक विशेष भेद ज्ञान के हेतु भूत सम्पूर्ण कर्म क्षीण नहीं हो जाते, तभी तक भेददर्शी मनुष्यों की दृष्टि में यह विश्व तथा परब्रह्म भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। जहां सम्पूर्ण भेदों का अभाव हो जाता है, जो केवल सत् और वाणी का अविषय है। जो स्वयं ही अनुभव स्वरूप है, वही ब्रह्म ज्ञान कहा गया है। वही अजन्मा एवं निराकार विष्णु का परम स्वरूप है जो उनके विश्व रूप से सर्वथा विलक्षण है। योग का साधक पहले उस निर्विशेष स्वरूप का चिन्तन नहीं कर सकता है, इसलिए उसे श्रीहरि के विश्वमय स्थूल रूप का ही चिन्तन करना चाहिये। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् परब्रह्मस्वरूप भगवान् विष्णु को उनकी शक्ति से सम्पन्न 'विश्व' नामक रूप है।

शक्ति तीन प्रकार से बतलाई गई है—परा, अपरा और कर्म-शक्ति भगवान् विष्णु

को 'परा-शक्ति' कहा गया है। 'क्षेत्रज्ञ' अपराशक्ति है तथा अविद्या को कर्म नामक तीसरी शक्ति माना गया है। क्षेत्रज्ञ शक्ति सब शरीरों में व्याप्त है, परन्तु वह इस असार संसार में अविद्या नामक शक्ति से आवृत्त हो अत्यन्त विस्तार से प्राप्त होने वाले सम्पूर्ण सांसारिक क्लेश भोगा करती है। उस अविद्या शक्ति से तिरोहित होने के कारण वह क्षेत्रज्ञ शक्ति सम्पूर्ण प्राणियों में तारतम्य से दिखाई देती है। वह प्राणहीन जड़ पदार्थों में बहुत कम है। उनसे अधिक वृक्ष, पर्वत आदि स्थावरों में स्थित है। स्थावरों से अधिक सर्प आदि जीवों में और उनसे भी अधिक पक्षियों में अभिव्यक्त हुई है। पक्षियों की अपेक्षा उस शक्ति से मृग बढ़े-चढ़े हैं। मृगों से अधिक पशु हैं। पशुओं की अपेक्षा मनुष्य परम भगवान की उस क्षेत्रज्ञ-शक्ति से अधिक प्रभावित है। मनुष्यों से भी बढ़े हुये नाग, किन्नर, गन्धर्व, यक्ष आदि देवता हैं। देवताओं से भी इन्द्र और इन्द्र से भी प्रजापति उस शक्ति से बढ़े हैं। प्रजापति की अपेक्षा भी हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जी में भगवान की उस शक्ति का विशेष प्रभाव हुआ है। ये सम्पूर्ण रूप उस परमेश्वर का ही शरीर हैं। क्योंकि ये सब आकाश की भाँति उनकी शक्ति से व्याप्त हैं। विष्णु नामक ब्रह्म का दूसरा अमूर्त्त (निराकार) रूप है, जिसका योगी लोग ध्यान करते हैं और विद्वान पुरुष जिसे 'सत्' कहते हैं। भगवान का वही रूप अपनी लीला से देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि चेष्टाओं से युक्त सर्व शक्तिमय रूप धारण करता है। इन रूपों में अप्रमेय भगवान की जो व्यापक एवं अव्याहृत चेष्टा होती है, वह सम्पूर्ण जगत् के उपकार के लिये ही होती है। कर्मजन्य नहीं होती है।

योग के साधक को आत्म-शुद्धि के लिए विश्वरूप भगवान के उस सर्वपापनाशक स्वरूप का ही चिन्तन करना चाहिए। जैसे वायु का सहयोग पाकर प्रज्वलित हुई अग्नि ऊँची लपटें उठाकर तृण समूह को भस्म कर देती है उसी प्रकार योगियों के चित्त में विराजमान भगवान विष्णु उनके समस्त पापों को जला डालते हैं। इसलिए सम्पूर्ण शक्तियों के आधारभूत भगवान् विष्णु में चित्त को स्थिर करे यही शुद्ध धारणा है।

तीनों भावनाओं से अतीत भगवान विष्णु ही योगियों की मुक्ति के लिए इनके सब ओर जाने वाले चंचल चित्त के शुभ आश्रय हैं। भगवान् के अतिरिक्त जो मन के दूसरे आश्रय सम्पूर्ण देवता आदि हैं वे सब अशुद्ध हैं। भगवान का मूर्त्तरूप चित्त को दूसरे सम्पूर्ण आश्रयों से निःस्पृह कर देता है। चित्त को जो भगवान में धारण करना स्थिरतापूर्वक लगाना है—इसे ही 'धारणा' कहते हैं। बिना किसी आधार के धारणा नहीं हो सकती अतः भग-

वान् के सगुण, साकार स्वरूप का जिस प्रकार चिन्तन करना चाहिये, यह स्वयं अपने सद्-गुरु जी से सीखें।

तत्पश्चात् अपने गुरुके बताये हुये धारणा को धारण करते हुए विद्वान साधक अपने चित्त से भगवान के किसी एक अवयव का ध्यान करे। तदनन्तर अवयवों का चिन्तन छोड़कर केवल अवयवी भगवान के ध्यान में तत्पर हो जाय। जिसमें भगवान के स्वरूप की ही प्रतीति होती है, ऐसी जो अन्य वस्तुओं की इच्छा से रहित ध्येयाकार चित्त की एक अनवरत धारा है, उसी को 'ध्यान' कहते हैं।

तस्यैव कल्पना हीनं
स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं
समाधिः सोऽभिधीयते॥

—नारदपुराण पूर्व० ४७/६७

उस ध्येय पदार्थ का ही जो मन के द्वारा सिद्ध होने योग्य कल्पनाहीन (ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी से रहित) स्वरूप ग्रहण किया जाता है, उसे ही 'समाधि' कहते हैं। —नारद पुराण से

卐 जल चिकित्सा 卐

हमारे शरीर का दो-तिहाई हिस्सा पानी से बना है। खाद्य तत्त्व हमारे शरीर के विभिन्न अङ्गों तक तरल रूपमें ही पहुँचते हैं। जो निःसत्त्व पदार्थ मल-मार्ग से बाहर निकलते हैं, वे पहले गीले होकर एक में मिलते हैं। जल शरीर के लिए स्वाभाविक घुलनशील पदार्थ है। यह सभी प्रकार के खाद्य-पदार्थों में पाया जाता है, लेकिन उस मात्रा में नहीं, जितनी शरीर को इसकी आवश्यकता है। इसलिए इसकी पूर्ति के लिए हमें पर्याप्त मात्रा में प्रतिदिन तीन से चार पिंट तक या जरूरत हो, तो इससे अधिक पानी पीना चाहिए। उचित मात्रा से कम पानी पीने से शरीर में तरलता ठीक से नहीं पहुँच पाती और शरीर से जहरीले तत्त्वों को बाहर निकालने की असमर्थता के कारण अनेक रोग हो जाते हैं। गर्म मौसम में, जब कि शरीर से काफी मात्रा में पसीना निकल रहा हो, शरीर को अधिक पानी की जरूरत पड़ती है।

जिस पानी के बारे में शुद्ध होने की आशंका हो, उसे उबाल लेना चाहिए। शुद्ध जल रंगहीन और स्वादहीन होता है। जल केवल शरीर के भीतरी अङ्गों की सफाई और शुद्धता ही नहीं करता और न केवल शरीर के अङ्गों के स्वाभाविक संचालन में सहायता प्रदान करता है, बल्कि यदि इसे पर्याप्त मात्रा में इस्तेमाल किया जाय, तो शरीर के चमड़े की नहाने के रूप में सफाई करता है और रोगों को दूर करने में निदान-सम्बन्धी आरोग्य प्रदान करता है।

यथा सम्भव भोजन के साथ पानी चाहिए। क्योंकि यह भोजन को तुरन्त नीचे उतार देता है और इसके अभावमें पाचक रस उसमें ठीक से नहीं मिल पाता और पाचनमें बाधा पड़ती है।

मानसी सेवा : अन्तर्यात्रा का पाथेय

❀ डा० श्री रमेशचन्द्र मिश्र, जनकपुरी, नई दिल्ली

यात्रा कोई भी हो—भौतिक अथवा आध्यात्मिक—पाथेय या अवलम्ब की अत्यन्त आवश्यकता रहती है, चैतन्य के आधार शरीर को गन्तव्य तक पहुँचने के लिए अथवा चेतना के स्वस्थ बने रहने के लिए। 'यात्रा' एक क्रिया है, जिसमें गति विद्यमान है और गतिशीलता में जितनी पाथेय की अनिवार्यता रहती है, उतनी ही यात्री में अपने को लघु अथवा हल्का बनाये रखने की भी आवश्यकता रहती है। कोई भी भार अथवा 'लगेज' चाहे वह भौतिक हो अथवा काम, क्रोध, मोह, लोभ छल-कपट या अहंकारादि के रूप में मानसिक हो, यात्रा को सरल सुखद नहीं रहने देता, बल्कि दूभर बना देता है—

बेहद बाटें कपट चले नहीं,
राखिये नहीं रजमात्र।

लोक-यात्रा के किंचित उदाहरण साम्य से आध्यात्मिक यात्रा का एक हल्का-सा बिम्ब हमारे मानस पटल पर बनता है। वैसे आध्यात्मिक यात्रा 'अगम' होने के कारण बड़ी दुर्गम और दुष्कर मानी गई है, पर लक्ष्य-सिद्धि होने पर उतनी ही आनन्दमय भी है—

बिन पांवन की राह है, बिन बस्ती का देस।
बिना पिंड का पुरुष है, कहै कबीर संदेस॥

—सं. बा. सं. भाग १, पृ. ३५

'मानसी सेवा'❀ या पूजा उसी ऊर्ध्व साधना या अन्तर्यात्रा का पाथेय है। इस अन्तर्यात्रा का लक्ष्य अध्यात्म की परम समता प्राप्त करना अथवा 'बिसर घर' तक पहुँचना है और वहां तक पहुँचाने वाला मार्ग सन्त

❀ टिप्पणी—प्रणामी सम्प्रदाय में प्रतीक, चित्र, मूर्ति आदि की पूजा न होकर मानसी-सेवा महत्वपूर्ण है। लोग युगलम स्वरूप के सम्मुख पूजा सामग्री रखकर मन से चिन्तन करते हैं अथवा यों ही ध्यान में परमधाम के पच्चीस पक्षों में रमण करते हुए अपनी दैनिक-चर्या में परमात्मा को सम्मिलित करते हैं। स्नान, ध्यान, भोजनमें प्रियतम उनके साथ तादात्म्य बनाये रहते हैं-

खाते पीते खेलते, सुपन सोवत जागत।
दम न छोड़े माशूक को, जाकी असल हक निसबत॥

परिक्रमा ग्रन्थ में दिनचर्या के समय उच्चारण की विधिवत् चौपाइयां हैं।

कबीर* के अनुसार अत्यन्त झीना, दुर्गम और रपटेला है, जिस पर चींटी के पैर भी मुश्किल से टिक पाते हैं। फिर अधिक बोझ ले जाकर चढ़ पाना कितना कठिन होगा।१ महामति का साक्ष्य है कि—'घाट अवघाट सिलवली, तहां हाथ ना टिके पपील पाए।' (कलश हि०, ३/५)

वहां भार या बोझा लेकर कौन पहुँच सकता है ? अन्तर्यात्रा पर अग्रसर होना शक्तिहीनों, कायरों या संकल्पहीनों का काम नहीं है। इस यात्रा पर चलने से पहले आत्म-शक्ति एवं वीर्यवती मानसिकता का संबल अनिवार्य है और साथ ही समर्थ गुरु का निर्देशन भी।२ उपनिषद् का ऋषि कहता है कि–'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' इधर सन्त कबीर कहते हैं कि 'स्वयं अपने हाथ से अपना शीश काटने की क्षमता वाला ही हरिनाम लेने का अधिकारी है, भक्ति की यात्रा किसी कायर या दुचित्ते के वश की बात नहीं है।३ महामति प्राणनाथ उस मार्ग को अत्यन्त भयानक और दुर्गम बताते हैं। वह राह इतनी ऊबड़-खाबड़ है कि हाथ-पांव टिकाने तक को जगह नहीं है उस पथ पर अग्रसर होना किसी कायर का काम नहीं, कोई शूरवीर ही उस मार्ग की कठिनाइयों के प्रहार झेल सकता है। विघ्न बाधायें ऐसे संकल्पी साधक के मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि उसे अपने 'दुल्हा'

---

* टिप्पणी—कबीर का साथ साक्ष्य इसलिये भी संगत है कि महामति ने कबीर को अक्षरोपासक माना है और शुक-सनकादि के साथ बड़े सम्मान से उनका नामोल्लेख किया है। साधक या मुमुक्षु की अन्तर्यात्रा भी अक्षरोपासना तक ही है, उसके आगे अक्षरातीत दशा तो लक्ष्य है, सिद्धि है, साधक की चरम-दशा का जीवन है। सभी सन्तों ने विशेषतः महामति प्राणनाथ ने उस दशा का सूक्ष्म और विशद वर्णन किया है। कबीर के सम्बन्ध में महामति के विचार हैं–
सुकजी और सनकादिक दोए, कबीर भी इत पहुँचया सोए।' —प्रकाश, प्र० २४
शुकदेव और सनकादिक, कबीर शिव भगवान।' —कलश

१— 'जन कबीर का सिषर घर, बाट सलैली सैल।
पांव न टिकै पपील का, लोगनि लादे बैल॥' —ग्रं०, सा० १४/७

२— 'पंथ दुहेला दूरि घरि संग न साथी कोई।' —सं. बा.सं. भाग १ (दादू), पृ ८०
'सतगुरु मायो वाको कहिए, जो अगम की देवे गम।
हद बेहद सबे समझावे, भाने मन को भरम॥' —किरन्तन, ५/१२

३— भगति दुहेली राम के, नहिं कायर का काम।
सीस उतारे हाथि करि, सो लेसी हरि नाम॥ —ग्रं., सा. ४५/२४

का (लक्ष्य का) उज्ज्वल स्वरूप सदा दिखाई देता रहता है—

ओतड़ दीसे रे अति घणूं देहिली,
हाथ न थोभे रे पाए ।
काम नहीं इहां कायर तणूं,
सूरे पूरे घायलें लेवाए ॥
—किरन्तन, ६७/४

बिरहा न छूटे वल्लभा, जो पड़े विघ्न अनेक ।
पिंड न देखूं ब्रह्मांड, देखों दुल्हा अपनो एक ॥
—सनंध, ६/४

यह अन्तर्यात्रा संसार यात्रा की विरोधी नहीं है, विपरीतमुखी है । संसार-प्रवाह अथवा 'धारा' अपने मूल स्रोत अथवा परमेश्वर से अलग होकर बही चली जाती हुई निरन्तर दूर होती चली जा रही है । सामान्य प्राणी जिसे साधना-साहित्य में प्रवाही-जीव कहते हैं, लोकचाल, रूढ़ि और शास्त्र के सहारे बहता रहता है । इस प्रवाही मनुष्य को साधु बनाने का प्रयत्न सन्त गुरुओं का रहा है । देखिए—

हद में रहे सो मानवी बेहद रहे सो साध ।
हद बेहद दोऊ तजें ताका मता अगाध ॥
—सं.बा. सं., भाग १, पृ. २२

किन्तु मुमुक्षु वृत्ति के परिणाम स्वरूप साधक अथवा अन्तर्मुखी जीवन यापन करने वाले जिज्ञासु को जीवन-मार्ग में यात्रानुभवी निर्देशक अथवा समर्थ सतगुरु, जिन्होंने समता प्राप्त कर 'हद' की सीमाओं का अतिक्रमण कर लिया है, मिल जाते हैं और वे निरुपाय असहाय बने जिज्ञासु यात्री के हाथ में ज्ञान का, प्रेम का दीपक दे देते हैं, जिसके प्रकाश में उनकी अन्तर्मुखी यात्रा प्रारम्भ हो जाती है ।१ परिणामतः अब तक जो 'धारा' अथवा संसार प्रवाह उनके लिए प्रवृत्ति-परक या मोहमयी था, वही तब निवृत्ति-परक या वैराग्यमयी बन जाता है और जो प्रवृत्ति 'धारा' थी वह उलटकर निवृत्तिमयी 'राधा' बन जाती है । इस निवृत्तिमयी अन्तर्मुखी यात्रा में यात्री की वृत्ति लययोग में निमग्न बनी रहती है ।२ महामति ने इसी निवृत्ति-

---

१— 'पाछें लागा जाइया लोक वेद के साथ ।
पेंडे में सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथ ॥' —कं० ग्रं०, १/१४
'कनफूंका गुरुहद का, बेहद का गुरु और ।
बेहद का गुरु जब मिले, तबलहै ठिकाना ठौर ॥' —सं. बा सं. भाग १, पृ. ४

२— 'कबिरा धारा अगम की सतगुरु दई लखाय ।
उलटि ताहि सुमिरन करो स्वामी संग लगाय ॥' —सं. बा सं. भाग १, पृ. ७

मयी वृत्ति को 'वैराग्य' कहा है । यही आराधक को अपने अन्तर्यात्रा के गन्तव्य रूप 'घर'१ तक पहुँचाने में सहायक होता है—

जो जानो घर पाइए अपना,
सो राखियो रस वैराग जी ।
सकल अंगों सुख सेवा कीजो,
इन विध बैठो आग जी ॥
—प्र० हि० ३०/४२

अध्यात्म की इस अन्तर्यात्रा के यात्री अथवा आराधक लोकयात्रा अथवा जीव-सृष्टि के आराधकों से थोड़ा भिन्न प्रकार के होते हैं, क्योंकि उत्मन या उन्मन होने के कारण उनके मन की दिशा ऊर्ध्वमुखी हो चुकती है । जब मन की वृत्ति ही बदल जाती है, उसका रूपान्तरण ही हो जाता है, तो मनकी सारी शक्ति 'उन्नयन के मार्ग' में लग जाती है । प्राणनाथ जी ने परम लक्ष्य के रूप में ब्रह्म सृष्टि में प्रेम साधना को विशेष महत्व दिया है । उनका विश्वास है कि जीव सृष्टि में 'वजूदी बन्दगी' अर्थात् शरीर शुद्धि, ईश्वर आराधना, उपवास, आरती, कीर्तन आदि शुभ कर्म उपयोगी हैं । आत्मा का परम रूप प्राप्त करने के लिए शरीर को कुच्छ साधना की आवश्यकता नहीं । नश्वर शरीर का सम्बन्ध नश्वर संसार से है । इसलिए शारीरिक 'करनी' सांसारिक जीवों को वश में कर सकती है, परमात्मा को नहीं । वास्तविकता तो यह है कि आराधना में मन को मारा नहीं जाता, और मारा जा भी नहीं सकता । उसकी दिशा बदली जाती है, उसका रूपान्तरण किया जाता है, उसकी असद् वृत्तियों को सद्वृत्तियों में ढाला जाता है । मानव चेतना में मन बड़ी समर्थ और शक्तिशाली इन्द्रिय है । बहिर्मुखी बने रहने पर यह ईश्वर प्राप्ति में समता के जीवन में, बाधक बना रहता है, क्योंकि गुण, अङ्ग इन्द्रिय आदि सब इसके आधीन बने रहते हैं और यह अपनी चञ्चलता के कारण बाहर भागता हुआ समझता है कि सांसारिक सुख के बराबर कोई सुख नहीं है । फलतः यह कुम्हार के 'चकरड़े'२ की तरह फिरता हुआ अखण्ड आनन्द को खो बैठता है—'इन झूठे दुखते भाग के, खोवत सुख अखण्ड ।'—प्रकाश,प्र. १६) परमधाम या परम लक्ष्य के लिए इतनी शक्ति शाली इन्द्रिय 'मन' का दमन नहीं करना है,

१— 'घर जालों घर ऊबरै, घर राखों घर जाई ।' —क. ग्रं., ४१/४
He looseth life who saveth it.
He saveth life who looseth it. —Jesus Christ.

२— अब तोकों कहूँ चाक चकररडा चढ़ बैठा जीव के सिर ।
तैं खाली ऐसा फिराया, रह न सके क्यों ए थिर ॥ —प्रकाश, २०/८१

बल्कि सहज रूप में परमात्मोन्मुख करके अन्तर्यात्रा के सहयोगी के रूप में उससे बहुत बड़ा काम लेना है।१ उसके दमन करने में अपनी शक्ति और समय ही नष्ट होंगे, और फिर इच्छादि के दमित होते ही लक्ष्य प्राप्ति, 'पिऊ मिलन' की इच्छादि भी उदासीनता में लय हो जायेगी।२ इसलिए महामति ने इस अन्तर्मुखी यात्रा को 'इन्द्रिय दमन' की❀ आराधना न मानकर 'इन्द्रिय निग्रह' की साधना माना है। इसलिए सम्पूर्ण इन्द्रिय-शक्ति को घेर कर, संगठित करके अन्तर्मुखी करने की बात उन्होंने कही है—

गुण पख इन्द्री उल्टे करत हैं सब जोर।
सो सब ढेढे टाल के कर देऊं सीधे दोर ॥
—कलश, प्र. २/२४

जिन अंगों मिलिए पीऊ सों सोई दिए उलटाए।
-किरन्तन, प्र. ६०/१८

मानव चेतना का उन्नयन इसी अन्तर्यात्रा का परिणाम है। अन्तर्मुखी जीवन के लिए 'कहनी' से अधिक 'रहनी' अर्थात् स्थिति में चेतना की निरन्तरता आवश्यक है। वहां मानने और जानने से अधिक पहचानने का महत्व है। महामति का कहना है कि रात में लोग कह सुनकर बैठे रहते हैं, करते कुछ नहीं। अब तो आचरण के दिन आये हैं। आचरण के बिना कहना किस काम का? रहनी से ही परमात्मा के द्वार अनावृत होते हैं। रहनी आत्म चेतना तक पहुँचाने में सहायक होती है कहनी "चाम" तक अर्थात् भौतिक जीवन या शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र तक पहुँचाने में सहायक हो पाती है। देखिए—

कादी केहेनी कही मुख से,
बिन रेहेनी न होवे काम।
रेहेनी रूह पोहोंचावही,
केहेनी लग रही चाम ॥

१— चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। —गीता ६/३४
समर्थ मन तू बड़ा जोराबर, कहा कहूं तेरो विस्तार।
तुझ में फैन विध विध के, अलेखे अपार ॥
अबतोसं काम बड़ा मेरा, मदमस्त में वार।
फिर तूं पख पच्चीस माहि, बलवन्त बेसुमार ॥ -प्रकाश, २०/८१
२— अब ममता आओ मेरे पिऊ में, तोको पहिले दई धिकार।
अब संघातन हो तूं मेरी, मोहे मिले धनी सिरदार ॥ -प्रकाश, प्र. २०

❀ टिप्पणी—आरोहण की इस साधना के मार्ग में प्रवृत्ति या प्रकृति को जब बलात् या हठात् रोका जाता है तो वह अन्यत्र फूट-फूट कर निकल पड़ती है और अवैध मार्ग का अनुसरण करने लगती है। भारतीय साधना के इतिहास में बौद्ध-सिद्ध एवं तन्त्र साहित्य में वामाचार या यौनाचार के अनेक विकृत उदाहरण मिलते हैं।

केहेनी सुनती गई रात में,
आया रेहेनी का दिन ।
बिन रेहेनी केहेनी कछुए नहीं,
होए जाहेर अरस बका बतन।।
किया छो., १/५५-५६

मानसी सेवा की की अखण्डता या निरंतरता बनाये रखना वृत्तियों या इन्द्रियों की अन्तर्मुखता के बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि जिन इन्द्रियों से परम प्रिय से मिलना है, उसका साक्षात्कार करना है, उनको आन्तरिक स्वत्व से पुष्ट करना, शक्तिशाली और असीम बनाना होगा, संकीर्णता और क्षुद्रता छोड़नी होगी । देखिए—

हद में पीव न पाइये बेहद में भरपूर।

प्रिय के अनुरूप बनना अथवा यों कहें कि इन्द्रियों को पात्रता प्रदान करना आवश्यक है। क्योंकि आधेय प्राप्ति के लिए योग्य आधार अपेक्षित रहता है।१ और मानस सेवा के बिना भाव देह के दोष प्रक्षालित नहीं हो पाते।२ देखिए—

जोलों प्रेम न उपजे पीऊ सों,
तोलों मन न छोड़े फेर।
—किरन्त, १५/५

इसके लिए आराधक की चेतना को 'मरजीवा' शक्ति अपनानी होगी। यह 'मरजीवा' तत्व है क्या ? मरजीवा का शाब्दिक अर्थ है जीते जी मर जाना या मृतकवत् रहना । यह भौतिक मृत्यु से भिन्न प्रकार का मरना होता है।३ महामति की दृष्टि में 'हक' की हकीकत प्राप्ति के लिए, स्वामी की पहचान का सुख लेने के लिए, आत्म-साक्षात्कार के लिए अन्तर्मुखी यात्रा पर अग्रसर होने के लिए यह 'मरण' आवश्यक है।४ और इस मौत की

१— 'केसरी दूध न रहे रजमात्र, उत्तम कनक बिना जो पात्र ।

२— 'बिना योग्य आधार के आधेय की सत्ता नहीं हो सकती। बिना विशुद्ध देह के भाव का उदय नहीं हो सकता। यह प्राकृत देह अशुद्धियों के आगार होने से नितान्त मलिन, दोषपूर्ण तथा अशुद्ध होता है। इसमें भाव जैसे विशुद्ध पदार्थ के धारण करने का सामर्थ्य नहीं रहता। भाव देह आन्तर विशुद्ध देह होता है और बाह्य देह बाहरी अशुद्ध देह होता है। ......भाव देह के सिद्ध होने पर ही साधक के हृदय में भाव का उदय होता है और यही भाव नाना साधनों से विकसित होकर प्रेम के रूप में परिणत हो जाता है। बिना प्रेम के उदय हुए भगवान के अपरोक्ष ज्ञान का उदय नहीं होता। —भागवत संप्रदाय, बलदेव उपाध्याय पृ० १४३-४४

३— मर मर सब कोई जात है, चाहिए मोमनों मौत फरक ।
दुनियां बीच गफलत के, मोमिन जागें दिल अरस हक ।। —किया० छो० १/६४

४— दादू जीवत मृतक होइ करि, मारग माहैं आव ।
पहली सीस उतारि करि, पीछे धरिये पाव ।। —दादू० ग्रं० अंग २३
खुदाई इल्म सों मरिए, जो हकें दिया बताय । —खिलवत, ३/३

जिन्दगी में सर्वत्र सुगन्धि ही सुगन्धि भर जाती है। देखिये—

पेहेले पी तू सरबत मौत का,
कर तेहेकीक मुकर्रर ।
-खिलवत, २/३१

जो तू ले हकीकत हक की,
तो मौत का पी सरबत ।
मुए पीछे हो मुकाबिल,
तो कर मजबूत खिलवत ॥
कौल फैल हाल आइया,
तब मौत आवेगी तोहे ।
तब रूह की नासिका को
आवेगी, खुसबोए ॥
-- सिनगार, २५/६५-६७

पहिले आप मुर्दे हुए, पीछे दुनी करी मुरदार।
-किरन्तन, १६

वास्तव में यह मरजीवा साधक, सागर की गहराइयों से रत्न या बहुमूल्य पदार्थ खोज निकाल लाने वाले गोताखोर की तरह से संसार-सागर या हृदय-उदधि से विचार और विवेक का वेश्म पहनकर, धैर्य का अवलम्बन धारण करके, उलटा गोता मारकर१ अर्थात् अन्तर्मुखी होकर, चेतना का मन्थन करते हुए ज्ञान और भाव रत्नों की प्राप्ति करता है। ऐसा करते हुए आराधक जब लौकिक, दैविक और मानसिक विघ्न बाधाओं में भी अडिग बना रहता है और सब काल की द्वन्द्वात्मक शक्तियाँ उसे विचलित नहीं कर पातीं।२ परमाराध्य के मार्ग अथवा 'राम कसौटी' पर ऐसा कोई मरजीवा ही टिक पाता है।३ ऐसा कालजयी विचारक 'स्व-राज्य' में जीता है और कार्य-कारण शृंखला से मुक्त हो 'स्व देश' में 'स्वतन्त्र' बना विचरण करता है। परन्तु इस अन्तर्मुखी दशा में वह ऊर्ध्ववृत्ति होकर लक्ष्य-भेदी बाण साधे रहकर ज्ञानोदय अथवा प्रेमोदय का मार्ग प्रशस्त करता हुआ अग्रसर बना रहता है।४ वास्तव में अन्तर्मुखी होने पर मन शक्तिमयी होकर सदा जीवन्त बना रहता है। बहिर्मुखी मन तो सांसारिकता के बोझ या वासना के दबाव के कारण मृतकवत् ही होता है। ऐसे बोझिल मन की अन्तर्यात्रा या आराधना में कोई उपयोगिता नहीं होती। लेकिन, मृतक मन जीवित अन्तर्मुखी होकर सनातन हो जाता है५ और वैसा होने पर फिर

१- सो पावेगा लाल जाइके गोता मारे।
मरजीवा ह्वै जाइ लाल को तुरत निकारे ॥ -पलटू० बा० भाग १ पृ० ५३
२- मृतकहि देखि डरानों काल। -सु० ग्रं०, भाग २, अंग २२
३- खरी कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोइ।
राम कसौटी सो टिकै, जो जीवित मृतक होइ ॥ -क० ग्रं०, ४१/३
४- मृतक उठ्या धनक कर लीयें, काल अहेडी भागा।
उग्या सूर निसकिया पयांनां, सोवत थें जब जागा ॥ —क० ग्रं०, पद ६
५- अब मन उलटि सनातन हुवा। तब जाना जब जीवत मूवा॥ —क. ग्र. पद १०

कोई भी आकर्षण उसे बाहर खींचकर मार भी नहीं सकता।१ मन की इस अन्तर्मुखी यात्रा के लिए महामति प्राणनाथ ने अपना अभिमत अनेशः प्रकट किया है। उन्होंने स्वयं 'मजिया' बनकर संसार यात्रा में मुहम्मद रूपी मोती को पहचाना था ('बीच मजिया हेय काढ़ी सीप, मिने मोती मुहम्मद पहचान।')। उनके द्वारा निर्दिष्ट 'मोमन' ❀ या अध्यात्म चेता अपनी भीतरी यात्रा पर चल पड़ता है तो उसकी दुनियावी चाल बदल जाती है, क्योंकि उस यात्रा पर चलते ही उसका रूपान्तरण सहज ही होने लगता है- क्योंकि रूह की आंखें खुलते ही चर्म चक्षुओं की गति अवरुद्ध होकर सीमित हो जाती है।२ अन्तर्यात्रा में रूह दृष्टि से देखा हुआ सौन्दर्य और भी अनिर्वाच्य होता है। देखिए–

महामत कहें मोमन की, मिटगई दुनियाँ चाल।
जागिए हक दिल अरसमें, तो अबहीं बदले हाल।
—सनंध, ३६/७४

जो जोत समूह सरूप की,
सो नैनों में न समाए॥
जो रूह नैनों में न आवहीं,
सो जुबां कह्यो क्यों जाए॥
– सागर १०/५४

अध्यात्म की इस अन्तर्यात्रा में प्रपत्ति अथवा भगवद् शरणागति पूर्ण सहायक होती है। इष्ट या परम के प्रति क्रियात्मक प्रेम अथवा श्रद्धा और प्रेम का समन्वित रूप ही भक्ति कहलाती है। परन्तु प्रपत्ति तो पूर्ण आत्म-समर्पण ही है। मानसी सेवा में प्रपन्न या शरणागत अपने उपास्य अथवा सेव्य की अहेतुक कृपा का आकांक्षी बना रहता है। जब कभी उसका अपनी यात्रा या आराधना का संबल चुकने लगता है, तो यह प्रपत्ति भावना ही आराधक को पाथेय प्रदान करती है। भगवत शरणागति पर ही सभी पूर्ण अधिकार है। प्रपत्ति-मार्ग पर अनुगमन करने के लिए वर्णाश्रमगत जाति, योनिगत भेद और समाजगत ऊँच-नीच या गरीब-अमीर की विभाजक रेखायें बाधक सिद्ध नहीं हो सकतीं। क्योंकि जिस 'बड़े'३ के सामने अपने 'स्व' को अर्पित किया जाता है, उसका 'प्रसाद' हमारे प्रयास को निरन्तर संबल प्रदान करता रहता है। उस परम की चेतना इस लघु के अहं को निरन्तर विगलित करते हुए आन्तरिक ऊर्जा को व्यापक और ऊर्ध्वमुखी बनाती रहती है। तब मानसी सेवा वाला आरोही सुख-दुःख के द्वन्द्व से ऊपर उठ जाता है और जब द्वन्द्व ही चेतना में नहीं रहता तो फिर चेतना समता को प्राप्त कर लेती है। यही समत्व चेतना ही

१— जियताहि जो रे मरै हुक बारा। पुनि कत मीचु को मारै पारा॥ -पद्मावत, २१६/६

❀ टिप्पणी—कुरान के अनुसार परमात्मा के प्रेममें भरकर, उसकी राह पर सब कुछ कुर्बान कर चलने वाला यात्री 'मोमिन' कहा जाता है। गीता में यही स्थित प्रज्ञ या ब्रह्म-निष्ठ है।

२— जिन हरबराओ मोमनो, हुकुम आपे करते है काम।
खोल देखो आंखें रूह की, जिन देखो इष्ट धाम॥ -सिनगार, २६/६३

३— राम सों बड़ो है कौन मोसों कौन छोटो। रामसों खरो है कौन मोसों कौन खोटो॥
—तुलसी, विनय पत्रिका

आत्म-साक्षात्कार की दशा है, 'वर्तमान' की स्थिति है। यह वर्तमान ही व्याप्ति है। इसमें जीना ही भगवान में जीना है। इस दशा को महामति प्राणनाथ ने 'हकदशा' कहा है। इस दशा में सदाचार आदि का भी महत्व नहीं रह जाता, क्योंकि दुराचार की वृत्ति ही लय हो जाती है। तब तो शब्द शून्य में विलय हो जाता है और अखण्ड ध्यान उठते-बैठते, चलते फिरते बना रहता है। यही 'मानसी सेवा' है—
खाते-पीते उठते-बैठते सुपन सोवत जाग्रत।
दम न छोड़े मासूकके, जाकीअसल हक निसबत।

मानसिक यात्रा की इस अवस्था तक पहुँचने पर अध्यात्म जीवन जीने वाले यात्री की चेतना सहज में डूब जाती है। तब उसके ऊपर किसी प्रकार की सेवा भावना का आरोप नहीं किया जा सकता, तब तो वह हृदय से सहज ही उगती है, फूट पड़ती है। और ऐसा व्यक्ति साधना के लिए ही नहीं, समाज के लिए भी अत्यन्त विश्वसनीय बन जाता है। वास्तव में संसार में ऐसा कोई एकान्त स्थल नहीं जहां मनुष्य छिपकर दुष्कर्म कर सकता हो, क्योंकि वह औरों से तो छिप सकता है, अपनी साक्षीभूता चेतना से अपने को नहीं छिपा सकता। यह जगत जगदीश से प्रतिबिम्बित है, तो उसके प्रति उपेक्षा या घृणा क्यों ? सभी व्यक्तियां उसकी—परम की ही अभिव्यक्तियां हैं, फिर मनुष्य-मनुष्य के प्रति अनादर और हीन भाव क्यों ? इसलिए अन्तर्यात्रा में प्रपत्तिमयी चेतना की स्थिति-प्रज्ञता की अपेक्षा बनी रहती है। यह प्रपत्ति चेतना जीवन्मुक्ति के बाद की दशा है,१ क्योंकि इसमें जन्मजन्मान्तर में कर्मों का रस पीकर बलवती हुई वासनालता के अंकुर फूट नहीं पाते। अन्तर्यात्रा पर अग्रसर ऐसे संकल्पी यात्री की नौका का विपरीतमुखी संतरण प्रवचन,२ बुद्धि सम्मत उपदेश अथवा वेदाध्ययन आदि नहीं कर पाते, स्वयं परमात्मा ही उनका कर्णधार बनता है, जो चेतना में ही उसे उपलब्ध हो पाता है।

मानसी सेवा में आन्तरिक निर्मलता का विशेष महत्व बताया गया है।३ और मन की निर्मलता चित्त की एकाग्रता के द्वारा ही संभव है। दिनरात प्रियतम का स्मरण, दर्शन और रमण से बढ़कर कौन-सा तीर्थ हो सकता है ? अन्तर्यात्रा में यदि प्रवेश हो जाये तो, माया की दलदल में भी कमल के समान निःसंग रहा जा सकता है। आसक्ति के अभाव में अज्ञान अन्धकार का विनाश एवं गुण, अंग और इन्द्रियों की सहज मित्रता प्राप्त हो जाती है।४ बाहरी प्रक्षालन के स्थान पर हृदय की निर्मलता चाहिए—

१— हम अरस परस हैं हक, देखो मोमनो हिसाब।
हम हक में हक हम में, और हक बिना सब ख्वाब॥ —सिनगार, २/१२

२— नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेनलभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम्॥ —कठोपनिषद्, १/२/२३

३— निर्मल जन मन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ —मानस

४— घर हीं में न्यारे रहिये, कीजे अन्तर में बास।
तब गुन अंग आपे हो वहीं, गयो तिमर सब नास॥ —किरन्तन, २५/२७

तीरथ तेजे एक चित कीजे,
करम न बांधिये कोए ।
अहे निस प्रीतें प्रेमसुं रमिए,
तीरथ एणी पेरे होए ॥
—किरन्तन १२६/२३

कोटि करो बन्दगी, बाहिर होवो निर्मल ।
तौलों पीऊ न पाइये, जोलों न साधे दिल ॥
—किरन्तन, १३२

दिल पाक जोलों होए नहीं,
कहा वजूद ऊपर से धोये ।
धोए वजूद पाक दिल,
कबहूं हुआ न कोए ॥
—सनंध, २१/४०

अन्तर्यात्रा की समाप्ति से पूर्व तक बड़ी सावधानी, चित्त की एकाग्रता और क्षण-क्षण के सन्तुलन,१ स्मरण और सुरति-आरोह की अनिवार्यता बनी रहती है। साधक के लिए अखण्ड जाप, सुरति अथवा मानसी लय से पूर्व तक ही 'बन्दगी' की आवश्यकता रहती है,२ मानसी सेवा की दशायें और उसके आगे तो साधक या प्रिया को पूर्ण प्रेमोदय की दशा प्राप्त हो जाती है और तब उसको अपना एक 'दूल्हा' (लक्ष्य) ही दिखाई देता है (—कलश- ६/४) । आशिक को यह मानसी - सेवा रूप बन्दगी बाहर नहीं दिखाई देती । स्वयं आशिक उस मानसी रूप में तदाकार हो जाता है—

आसिक की एही बंदगी जाहेर न जाने कोए ।
और आसिक भी न बूझही एकहोत दोउसे सोए ।
— सिनगार, २३/६८

इस अन्तर्यात्रा का परिणाम होता है— समाधिगत आनन्द, लयावस्था, सम्पूर्ण विषमताओं पर विजय, श्री राजजी का आनन्द,३ श्री राजश्यामाजी का आमना सामना, युगलस्वरूप में स्थिति । यह दशा उपास्य और उपासक की एकाकारिता आत्मसाक्षात्कार की स्थिति, उपासना के बाद की उप-आसना अथवा 'पीउ मिलन' का जीवन है, जो पूर्ण लय की अवस्था है । इस अवस्था में प्राप्त आनन्द का कोई विपर्यय नहीं है । इस मिलन या दर्शन का स्वाद जिसको एक बार मिल गया, वह कभी उससे छूटता नहीं । यह अन्तर्यात्रा रूप आध्यात्मिक जीवन अन्तर्मुखी होते ही, 'हदभूमि' से प्रारम्भ होकर 'बेहद भूमि' तक मानसी सेवा के रूप में चलता रहता है । उसके बाद की अवस्था साम्यावस्था है, जो 'अखण्ड भूमि' में अथवा अक्षरातीत अनुभव में मानी गई है । अखण्ड भूमि में पहुँचने तक ही मानसी सेवाकी आवश्यकता रहती है । उसके बाद तो शरीर संसार में रहते हुए भी अखंड-

१ — जो न्यारा माहि बाहेर से, तुम ताको करो पेहेचान । —सनंध २९/५
चौकस कर चित दीजिए, आतम को एह यत्न ।
निमख एक न छोड़िए, कर मन वाचा करमन ॥ —परिक्रमा, ५/६

२— मोमन तब लग बन्दगी, जो लों आया नहीं इस्क ।
इस्क आए पीछे बन्दगी, ए जाने मासूक या आसक ॥ —सिनगार, २३/६७
फेर फेर सुरत साधिए, धनी चरित सुख चैन ।
इस्क आए बेर कछु नहीं खुल जाते निज नैन ॥ —परिक्रमा, ४/२३

३— बेहद सुख पार बेहद घर, बेहद पार श्रीराजजी ।
अक्षरातीत सुख अखण्ड देने को, आमठं तुमारे काजजी ॥ —प्रकाश० हि०, ३०/१८

नन्द सागर में निमग्न बना रहता है।१ तब 'वह' निस्व हो जाता है, चेतना परमात्मा में विसर्जित हो जाती है, आराधक और आराध्य के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है, पुजारी पूज्य बन जाता है। पूजा या मानसी सेवा की यह परम उपलब्धि है। तब किसी प्रकार के नियम आदि की सीमायें वहां अवरोधक नहीं रहतीं। लेकिन, उस घाटी तक पहुंचने से पहले वहां तक चढ़ने की प्रक्रिया से गुजरना भी महत्वपूर्ण है, अन्यथा सब कथनी मात्र रह जायेगा—

जब चढ़िये घाटी प्रेम, तब न रहे कछु नेम।
जब चढ़े प्रेम के पुञ्ज, तब नजरों आय निकुञ्ज॥

उस निकुञ्ज को दिखा देने के बाद महामति प्राणनाथ कहते हैं कि वह अखण्डावस्था तेरे भीतर ही है, तू उस परमप्रिय में ही है, परदा हटाले नूर बिखरा हुआ दिखाई देगा—

अहनिश तूं मिली रहे, अपने पिउ के संग।
—किरन्तन, १२३/३

तूं आपे न्यारी होत है, पीउ नहीं तुमसे दूर।
परदा तूंही करत है, अन्तर न आड़े नूर॥
—किरन्तन १२२/५

और तब सभी मिलकर एकरस हो जाते हैं। यह अखंडभूमि विश्राम की दशा है।२ देखिए—

हक अरस परस सरस सब एक रस,
वाहेदत खिलवत निसबत न्यामत।
महामत अलमस्त होए आवें उमत लिए,
पीवत आवत हक हाथ सरबत॥
—किरन्तन, ११७/४

सारांश में कहा जा सकता है कि मानसी सेवा के परिणाम स्वरूप प्राप्त अन्तर्यात्रा की परमभूमि अथवा अत्यन्त साम्यावस्था की प्राप्ति कोई खिलवाड़ नहीं है, शब्दों में बोल देना भर नहीं है। इसके लिए ज्ञान-विरह अथवा भाव-विरह की निरन्तरता चाहिए, आठों याम की विरहिन चेतना३ चाहिए। मानव देहमें ही अखंडफल प्राप्ति के लिए यह मानसी सेवा रूप अन्तर्यात्रा जीव के लिए, जीवन के लिए अपरिहार्य है। इसके बिना बड़े भाग्य से प्राप्त यह मनुष्य शरीर अपनी संकीर्णताओं में ही भर खप जाता है और मिला हुआ अवसर हाथ से निकल जाता है। इसीके लिए सावधान करते हुए महामति प्राणनाथ हम सभी को चेताते हुए से प्रतीत होते है—

मानख देह अखण्ड फल पाइये।
सो क्यों पाए के वृथा गमाइये॥ किरन्तन ४/२

१—ओखेले पार पयासों और देखने को तन सागर माहिं।
परस भयो जाको पुरुषोत्तम सों, सो बाहेर न देवे देखाई॥ —किरन्तन, ९/४

२—हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनिजन महल न पावहीं, तहां किया बिसराम॥ क० ग्रं०, ५/११
माला जपूं न कर जपूं जिभ्या कहूं न राम।
मेरा सुमिरन हरि करें मैं पायो विश्राम। —मलूकदास

३—आठों जाम बिरहनी, सांस लिए हक हक। कलश ५/११
दुख बिना न होए जागनी, जो करे कोट उपाय। —किरन्त १७/१४
दुख से पीऊ जी मिलसी, सुखे न मिलिया कोय। —किरन्तन, १७/१०
दुख से विरहा उपजे, विरहा प्रेम इश्क।
इश्क प्रेम जब आइया, तब नेहचे मिलिए हक। —किरन्तन, १७
हंसि हंसि कन्त न पाइए, जिनि पाया तिन रोइ।
जे हांसे ही हरि मिलै, तो नहीं दुहागनि कोइ॥ क० ग्रं०, ३/२९

卐 दीपक 卐

सचमुच शिव सा इसका जीवन,
जग हित सम विष पान किया है ।
इसीलिये दुनियाँ वालों ने,
इसको इतना मान दिया है ॥

इसने ज्योति उठा ऊपर को,
योग - क्षेम पहचान लिया है ।
जीव, ब्रह्म का संयोजक कह,
"दिया" जगत ने नाम दिया है ॥

—श्री जगदीश शरण बिलगईयाँ 'मधुर'

❁ श्री सद्गुरुदेव जी के योग-प्रचार कार्यक्रम ❁

दिनांक १५-१०-८१	को	चण्डीगढ़ के लिए प्रस्थान
दिनांक १६-१०-८१ से २५-१०-८१ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम चण्डीगढ़ पता—द्वारा पं० रामचन्द्र कालिया म० नं० ३२०१ सेक्टर १५ डी, चंडीगढ़
दिनांक २५-१०-८१	को	सवाई आश्रम को प्रस्थान
दिनांक २६-१०-८१ से २९-१०-८१ तक		आश्रम - निवास
दिनांक ३०-१०-८१	को	भिण्ड के लिए प्रस्थान
दिनांक ३१-१०-८१ से ५—११-८१ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम भिण्ड पता—धर्मशाला इटावा रोड, भिण्ड
दिनांक ६—११-८१	को	दिल्ली के लिए प्रस्थान
दिनांक ७—११-८१ से ८—११-८१ तक		दिल्ली - निवास
दिनांक ८—११-८१	को	झांसी के लिए प्रस्थान
दिनांक ९—११-८१ से १३-११-८१ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम झांसी पता—द्वारा श्री ईश्वरीप्रसाद खट्टर म. नं. ३१७/५ अटल निवास, नानक-गंज, सीपरी बाजार झांसी, (उ. प्र.)
दिनांक १३-११-८१	को	संगीत सम्मेलन हेतु श्री लक्ष्मी व्यायाम मंदिर प्रस्थान
दिनांक १४-११-८१ से १९-११-८१ तक		संगीत सम्मेलन एवं योग-प्रचार कार्यक्रम पता—द्वारा प्रभु श्री रामलाल संगीत विद्यालय श्री लक्ष्मी व्यायाम मन्दिर, झांसी (उ.प्र.)

❁ आगे के कार्यक्रम आगामी अंक में प्रकाशित होंगे । ❁

SIDHAYOGA Regd. No. L. AG. 08

धर्म के कुछ रहस्य

* जो दूसरों को जानता है वह दीक्षित होता है।
* जो अपने को जानता है वह अन्तर्यामी होता है।
* जो दूसरों को जीतता है वह समर्थ होता है।
* जो अपने को जीतता है वह परम समर्थ होता है।
* जो सन्तुष्ट है वही श्रीमान् है।
* जो निरन्तर गतिशील रहता है, वह लक्ष्य पर पहुंचता है।
* जो अपने में स्थित रहता है वह सदैव स्वस्थ और सुरक्षित है।
* जो इन्द्रियों पर संयम कर लेता है वह विश्वजयी होता है।

—अज्ञेय

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कार्यक्षेत्र प्रिंटिंग प्रेस, बलई कला, ताजगंज, आगरा-१ फोन ६३१६८